॥ श्री ॥

* भक्तामर *

अपर नाम

श्री आदिनाथ स्तोत्र

भापा टीका तथा छह तरह के पद्यानुवाद सहित

टीकाकार

स्वर्गीय श्री ईश्वरलाल सौगानी, जयपुर

प्रकाशक

ब्रह्मचारी मूलशंकर देशाई

जैन मन्दिर धूलियागंज, आगरा।

विजयादशमी वी० स० २४८२ — विक्रम स० २०१३

प्रथमावृत्ति २००० / १०००

मुद्रक जनता प्रेस, आगरा

मूल्य एक रुपया

हमारे प्रकाशन

१—भेदज्ञान	२)
२—पंचलब्धि	१।।)
३—तत्त्वार्थसूत्र सटीक	१।)
४—जिन सिद्धान्त	१)
५—गुणस्थान	१)
६—श्री भक्तामर	१)
७—दृष्टि दोष	॥-)
८—तत्त्वसार	।=)
९—जैन सिद्धान्त प्रवेशिका	।-)
१०—निमित्त	=)
११—पंचभाव	=)
१२—गुरु का स्वरूप	=)
१३—देव का स्वरूप	-)
१४—शास्त्र का स्वरूप	-)
१५—योगसार पद्यानुवाद	-)

छप रही है !

नीचे लिखी तीनों पुस्तकों का अंग्रेजी में अनुवाद प्रेस में छप रही है —

[१] तत्त्वसार [२] दृष्टि दोष [३] पंचलब्धि

[४] पंचास्तिकाय [हिन्दी में]

मिलने का पता —

दिगम्बर जैन मन्दिर,
धूलियागंज,
[illegible]

जैन दर्शन विद्यालय,
चाकसू का चौक,
जयपुर (राजस्थान)

ब्रह्मचारी मूलशंकर देशाई ने अपना निष्ठापत्र

आगरा कोर्ट में नं० ७८/III ता० ३ ९ ५६

का

रजिस्टर कराया उसकी नकल

मैं कि ब्रह्मचारी मूलशंकर पुत्र कालीदास हाल निवास स्थान आगरा का हूँ। मैं अपने स्वस्थ चित्त और स्थिर बुद्धि तथा इन्द्रियों की व्यवस्था में निम्नलिखित निष्ठा करता हूँ —

१—इस समय मेरे पास १००००)रु० की चल सम्पत्ति है जिसमें से ८००० रु० मेरा निजी द्रव्य है और २०००)रु० ज्ञान विकास के लिये दान से प्राप्त हुआ। मैंने ७ ००)रु० की कीमत की दिगम्बरजैन धर्म सम्बन्धी पुस्तकों की स्थापना की है व प्रकाशित की हैं और २०००)रु० मेरे नाम से पोस्ट आफिस सेविंग बैंक जयपुर अकाउण्ट नं० ८६०५७ में जमा हैं और १०००)रु० मेरे पास खर्च के लिए मौजूद हैं।

२—मैंने अपने जीवन काल में कुछ सम्बन्धी पुस्तकों की [illegible] की है और भविष्य में भी [illegible] इसी [illegible] प्रकाशित [illegible] आयु इस

की हो गई है, न जाने किस समय देहवसान हो जाय अब दूरदर्शिता के विचार से मैं उचित व आवश्यक समझता हूँ कि मैं एक निष्ठा पत्र लिखूँ जिससे कि मेरी मृत्यु के पश्चात् मेरे अध्यक्ष जिनको कि मैं अपने सकल्प की पूर्ति का कार्य सौंपता हूँ मेरी इच्छा के अनुसार कार्य करें जो कुछ इस समय मेरे पास सम्पत्ति है या भविष्य में जो मुझे किसी रूप से मिले, उसे धार्मिक रूप म व्यय करने का मुझे पूर्ण अधिकार होगा।

३—मैंने अपने जीवन काल म ब्रह्मचारी होने के पश्चात् जहाँ चतुर्मास किया है वहा की पचायत की आज्ञा लेकर हमने शास्त्र स्टोक में रखा है। उस शास्त्र पर मेरी ही मालिकी रहगी और ऐसे शास्त्र रखने के लिए अलमारी आदि बनाई जावे उस पर मेरा ही अधिकार होगा।

४—मेरे दो पुत्र हैं जिनका नाम भानूलाल तथा प्रवीण चन्द है, जिनको कि उपरोक्त सम्पत्ति या और जो भविष्य में मेरे पास आवेगी उससे उनका किसी प्रकार का सम्बन्ध व अधिकार नहीं होगा। मेरी मृत्यु के पश्चात् वह अध्यक्ष जिनको मैं नियत करता हूँ पुस्तक जो मेरी मृत्यु तक प्रकाशित हों उनको देश विदेश म बिना मूल्य लिये हुए, जिनको वह उचित समझें, प्रदान कर दें और जो रुपया शेष रहे उसे ज्ञान दान में लगा दें तथा जो फर्नीचर है वह भी धार्मिक संस्था में प्रदान कर देव।

५—मैं निम्नलिखित महानुभावों को अपना अध्यक्ष नियुक्त करता हूँ।

(१) श्री फतहलाल संघी, जयपुर (२) श्री माधादास मुल्तानी, जयपुर (३) श्री लादूराम जैन, जयपुर (४) श्री

हीरालाल जैन काला, कुचामन सिटी (५) श्री गुलाबचन्द जी गगवाल किशनगढ रेनवाल (६) श्री रतनलाल जी जैन, छावड़ा सीकर (७) श्री धमचन्द जी सेठी, गया (८) श्री नेमीचन्दजी बरवासिया, आगरा।

६—यह कि मुझे उपर्युक्त अध्यक्षों में से किसी अध्यक्ष को अपने जीवन काल में बदलने का अधिकार रहेगा।

मैं उपरोक्त अध्यक्षों में से पी० ओ० ऐस० बी० में से रुपया निकालने का अधिकार श्री फतहलाल जी, माधोदास जी व हीरालाल जी को देता हूँ।

अत मैंने यह निष्ठापत्र (वसीयत नामा) लिख दिया कि प्रमाण रहे। तहरीर तारीख २१ ८ ५६ ई०। व मसौदा बा० हजारीलाल जैन वकील, टाइप हुआ टाइपिस्ट इन्द्र सैन जैन, दीवानी कचहरी, आगरा।

जनता प्रेस, आगरा।

प्रकाशकीय वक्तव्य

भक्तामर काव्य के प्रस्तुत टीकाकार स्व० श्री ईश्वर लाल जी सौगानी से मेरा प्रथम परिचय लगभग चार वर्ष पूर्व, जब मैंने जयपुर में चातुर्मास किया था, हुआ था। आप बहुत धार्मिक वृत्ति के थे और जिज्ञासु भी थे। आपने समयसार आदि का अध्ययन किया था। तत्वचर्चा में आपकी बडी रुचि थी। मेरे साथ कई कई घंटे बैठकर तत्व चर्चा करना तो आपके लिए साधारण सी बात थी।

एक बार आपने मुझसे प्रस्तुत टीका की चर्चा की। टीका मैंने देखा। वह बडी सार गर्भित और सरस थी। साधारण व्यक्ति भी तत्व, द्रव्य और पदार्थ आदि का ज्ञान इससे सहज ही में कर सकते हैं। मैं इसे प्रकाशित करने का लोभ संवरण न कर सका, और इसी का परिणाम है कि प्रस्तुत टीका आपके सम्मुख है। परन्तु खेद है कि स्वयं टीकाकार इसे प्रकाशित रूप में न देख सके और आप १८ नवम्बर, १९५१ को स्वर्गवासी हो गए।

आपकी धर्मपत्नी श्री लक्ष्मीदेवी सौगानी भी काफी धर्मात्मा हैं। धर्म में आपकी विशेष रुचि है। अनेक धार्मिक ग्रन्थों का आप स्वाध्याय करती रहती हैं यहाँ तक कि समय सार नाटक का सवया आपको प्रायः कठस्थ है।

पाठकों से एक बात के लिए मैं विशेष रूप से क्षमा प्रार्थी हूँ। प्रस्तुत पुस्तक में श्री गंगाराम जी के काव्य भूल से श्री शोभाराम जी के नाम से छप गए हैं। पहले जो प्रति मिली थी, उसमें गलती से श्री शोभाराम जी का ही नाम था, परन्तु प्रेस में आधी पुस्तक छप जाने पर जयपुर के दिगम्बर जैन मंदिर बधिचन्द से एक प्रति मिली, जिसमें श्री शोभाराम जी ने काव्यों के रचयिता श्री गंगारामजी ही हैं। इस पर मूल रचयिता के विषय में शंका हुई और इस सम्बन्ध में मैंने बहुत खोजें की। अन्त में मैं इस निर्णय पर पहुँचा कि उक्त भाषा काव्य श्री गंगाराम जी के ही हैं।

—ब्र० मूलशंकर दसाई

टीकाकार का जीवन चरित्र

श्री ईश्वर लाल जी सौगानी का जन्म चैत्र शुक्ल ५, सं० १६८७ ई० में सेठ मनसुख लाल जी हलवाई क यहां हुआ था। आपके सात भाइ बहिन थे, परन्तु जीवित केवल चार ही रहे। आपके भाई भी सामाजिक सेवा के कार्यों में सलग्न हैं। आपका व्यापारिक जीवन दस वर्ष की आयु में प्रारभ हो गया था। मधावी तो आप थे ही। बहुत शीघ्र ही आप काम सीख गए और कुछ समय पश्चात ही आपने जेवर शृ गार कपनी स्थापित की और दतिया, ईडर आदि रियासतों के राज जाहरी पद को सुशोभित किया। तत्पश्चात मैसर्स सागानी एन्ड जैनी प्रादर्स के नाम से देश से बाहर जवाहरात भेजने की आपने एक अन्य फर्म भी स्थापित की। यही नहीं आपने दुखी और निर्धन जनों को काम दिलाने के लिए वस्त्र कार्यालय नाम से एक अन्य फर्म की भी स्थापना की परन्तु कुछ कारणोंवश यह कार्य बन्द करना पडा।

विदेश यात्रा—सन् १६२४ में आपने सपरिवार इगलैंड की यात्रा की। सन् १६२५ की वेम्बली एग्जीबीशन में आपके फर्म को कलात्मक वस्तुओं पर मैडिल (पदक) प्राप्त हुआ। इसके पश्चात एक बार स्वदेश लौटकर पुन आपने अमेरिका का भ्रमण किया और वहाँ जाकर भारतीय कला की सर्वोत्कृष्टता का प्रचार किया। परिणाम स्वरूप फिलाडेलफिया की प्रदर्शिनी में आपकी अनुपम कला कृतियों पर ग्राड प्राइज (सर्वोच्च पुरस्कार) मिला तथा पाँच गोल्ड मेडिल (स्वर्ण पदक) भी प्राप्त हुए। उस समय आपकी धर्मपत्नी को प्रदर्शिनी के उद्घाटन अवसर पर भारत के प्रतिनिधित्व का भार सौंपा गया। इन व्यापारिक कार्यों में व्यस्त रहते हुए भी आपने अमरिका में जैन धर्म का प्रसार किया और जन समाज को धर्म का सच्चा मार्ग बतलाया। स्वय आर्थिक हानि सहते हुए भी आपने विदेशी वस्तुओं का आयात नहीं किया, अपितु भारतीय वस्तुओं का निर्यात ही आप करते रहे। यह आपके अनन्य राष्ट्र प्रेम का

परिचय है। एक बार हिन्दू मुस्लिम दगों में आप गोली से घायल हो गए। फिर भी आपने अपनी चिंता नहीं की। स्वय घायल अवस्था म होते हुए भी अपने साथी की परिचर्या की।

सामाजिक सुधारा के कार्यों में भी आप पीछे नहीं रहे। नारी शिक्षा के लिए आपने श्लाघनीय काय किया। अपनी धर्म पत्नी को बम्बई के श्राविकाश्रम में शिक्षित कराया और उनके द्वारा सन् १६७० में महिला विद्यालय की स्थापना करवाई। यह विद्यालय अब भिन्न रूप मे कमला बाई ठोलिया द्वारा छात्रओं का मन्दिर जयपुर म संचालित है। आपने एक पुस्तकालय की भी जयपुर म स्थापना की जो आज भी जनता की निशुल्क सेवा कर रहा है।

आपने पाँच वर्ष की लड़की शकुन्तला का अनाथाश्रम मे लाकर बड यत्न म पालापोसा और उसने भी कौमार्य अवस्था में ही अपनी प्रतिभा दिखलाई। सन् १६८४ म उसका विवाह श्री हुकुम चन्द लुहाडिया के साथ हो गया, परन्तु सन् ८८ में ही वह परलोक सिधार गई।

अमरिका म आपका डा० मक्फेडन ने अपनी प्राकृतिक चिकित्सा की पुस्तक मित्रता के रूप में भट स्वरूप प्रदान की। उस पुस्तक के आधार पर चिकित्सा की नई प्रणाली द्वारा आपने जनता की सेवा की। रोगिया का मुफ्त ही सारा सामान और आराम देने म आपको बड़ी प्रसन्नता होती थी।

अन्तिम समय में आपने जयपुर के प्रमुख आध्यात्मिक विद्वानों की एक गोष्ठी बनाई जहाँ प्रवचनसार आदि ग्रथों की चर्चा होती है। कार्तिक सुदी ४ सवत् २०१२ को बीमारी के कारण आपका देहावसान हो गया। आपने अपने पीछे एक सपन्न परिवार छोड़ा है जिनम आपकी धर्म पत्नी श्री लक्ष्मी बाई पुत्र भरतेश चन्द, पुत्रवधू सुश्री शाता रानी, पौत्र अरुण कुमार एव पौत्री अजय शिखर हैं।

टीकाकार
स्व० श्रीमान ईश्वर लाल जी सौगानी जयपुर

मानतुङ्ग स्वामी —श्री आदिनाथ स्तोत्र का उद्भव श्री मानतुङ्ग स्वामी के मुखारविन्द से हुआ है। उस समय धारा नगरी में राजा भोज राज्य करते थे। उनका राज्य काल इतिहास के आधार पर १०७५ से ११५७ तक निश्चित है। ११वीं शताब्दी के अन्त से भारत में विदेशियों का आक्रमण आरम्भ हो गया था। इस कारण यहाँ का साहित्य बहुत कुछ नष्ट भ्रष्ट हो गया। श्रीमानतुङ्ग स्वामी का जन्म, दीक्षा ग्रहण, स्वर्ग गमन आदि के विषय में कोई उल्लेखित इतिहास नहीं मिलता। विद्वानों ने खोजकर के जो कुछ प्राप्त किया उसी पर संतोष करना पड़ता है।

श्रीमानतुङ्ग स्वामी का धारा नगरी में आगमन —स्वामी जी के बारे म ऐसा कहा जाता है कि एक समय व धारा नगरी म पधारे। धारा नगरी म परमारवशी राजाओ का राज्य था। उस समय राजा भोज राज्य करते थे। राजा भोज की सभा में द्वितीय कालिदास, धनजय, वररुचि, सुबधु, बाण, माघ, आदि बडे बडे विद्वान थे। राजा भी बड विद्वान और विद्या व्यसनी थे। उन्हें वाद विवाद, तक वितर्क म बडा आनन्द मिलता था। धनजय एक दिन गुरुदेव के दर्शना को चले गये थे। इस कारण वे राज सभा म समय पर नहीं पहुँच सके। राजा न धनजय को याद किया। कालिदास बोल उठे कि महाराज वे नया पाठ पढ़ने गये होगे। इतने म धनजय आ गये और उन्होने श्रीमानतुङ्ग स्वामी के आगमन के समाचार कहे।

राज सभा में मुनि — राजा ने गुरु दर्शन की इच्छा प्रगट की। किसी ने कहा महाराज ! बुलवा लीजिय। राजा ने गुरु महाराज को निमंत्रित किया। सेवको ने गुरुदेव से अनुनय, विनय, प्रार्थनायें कीं। किन्तु व सामायिक में थे। उनसे कोई उत्तर न पाकर सेवको ने राजा को भडका दिया। राजा ने आज्ञा दी की तुम पुन जाओ और उनको लेकर आओ। सेवक पुन आये। गुरुदेव निवृत हो चुके थे, किन्तु उपसर्ग समझ मौन सहित समाधि लगा ली। वार बार प्रार्थना करने पर भी गुरुदेव न बोले तब सेवक उन्हें उठा लाये और राजा की सभा में योग्य आसन पर विराजमान कर दिया।

मुनिका उपसर्ग —राजा न विनय सहित मौन छोड़ने की प्रार्थना की। गुरुदेव, निश्चल मूर्तिवत् बन गये। विद्वानो ने तर्क कुतर्क सब कुछ किये। राजा ने धनजय जी से भी कहा कि वे अमृत मय वाणी से सभा का तृप्त करें। परन्तु वे तो कान होते हुये भी बहरे बन गये। सभा म इस प्रकार राजा अपनी असफलता से कुपित हो गया। उसका कोप धीरे धीरे तीव्र ज्वाला का रूप धारण करता गया। सभा विसर्जन से भी अधिक समय हो गया था। सब लोग व्याकुल हो रहे थे। अन्त म राजा ने उन्हे बन्दी बनाकर और

साक्ला में उनके शरीर को कसवाकर वदीगृह की कोठरी में बन्द कर दिया। पहरेदारों को आज्ञा दी कि पूरा इन्तजाम रक्खा और नई बात होवे तो उसी समय सूचित करो।

गुरुदेव मौन थे। सम्भवत वे बारह भावनाओं का चिंतवन कर रहे होंगे। पर्याय एक समय के लिये भी स्थिर नहीं रहती। सब अपने अपने किये हुये कर्मों का फल भोगते हैं। कोई सुख दुख नहीं देता। जब तक शरीर से ममत्व है, तब तक संसार भ्रमण नहीं छूटता। मैं अपने कर्मों का स्वय कर्ता भोक्ता हूँ। किन्तु ये द्रव्य कर्म और शरीर मुझ से भिन्न हैं। शरीर पुद्‌गल है, यह हाड़, मास, मज्जा, मल मूत्र का भण्डार है। इसमें कोई ऐसी चीज नहीं है कि जिससे मोह किया जाय। यह तो सब घृणास्पद है। उपयुक्त एव अन्य रूपों से गुरुदेव ने चिन्तवन करते हुए, शरीर की असहनीय वेदना से विचलित न होकर शुद्धात्म स्वरूप का ध्यान किया। इस प्रकार शरीरादिक कष्ट के कारण नहीं हैं। पूर्व कृत कर्म उदय में आकर खिरते रहते हैं।

नगर में खबर—श्री गुरुदेव के बन्दी की खबर सारे शहर में बिजली की तरह फैल गई। जैनियों के घरों में चूल्हे नहीं जले। उनके हृदय में अग्नि धधकने लगी। शहर में सर्वत्र यही चर्चा थी। काफी दौड़ धूप थी। बड़ा ही जटिल प्रश्न था। राजा अपनी हठ पर है, मुनि अपने धर्म पर। दोनों ही अटल हैं। समझदार हैं। किससे कहें। सारी रात्रि विचारों में निकल गई।

मुनि की दृढता—राजा ने रात्रि में अनेकों बार अपने विश्वासी सेवकों को भेजकर तलाश किया। साधु अचल थे। उन्हें अत्यधिक शारीरिक वेदना विचलित करने में असमर्थ रही। राजा को अपनी भूल खटकने लगी। भौतिक शक्ति और आत्मिक शक्ति में घोर संग्राम ठना हुआ था। प्रात काल शहर के अनेक प्रतिष्ठित जन राजा द्वार पर आये। द्वारपाल से मालूम हुआ कि मुनि अचल हैं। महाराज ने अनेकों बार मुनि की अवस्था जानने

के लिये सेवक भेजे थे। राजा का जागते हुये जानकर नागरिकों को सान्त्वना मिली।

स्तोत्र का उद्गम —कुछ कुछ उजाला होने लगा। ऐसा प्रतीत होता है कि गुरुदेव उस समय माना अवसर्पिणी काल में भगवान ऋषभदेव का जन्म, कर्म भूमि की रचना, राज्य भोग, त्याग, मुनिव्रतधारण, कैलाश पर्वत पर शुक्ल ध्यान कैवल्य प्राप्ति का चिन्तनकर रहे हो। देवों का आगमन, समवशरण की रचना असंख्य देवों की जय जय कार के नारे इन्द्रादि देवों की स्तुति सुन कर उनकी आत्मा अत्यन्त प्रफुल्लित हो गई हो।

वे परमानन्द में मग्न थे। उनकी वचन वर्गणा स्वयं वाचाल हो गई। उनके श्री मुख से ध्वनि निकलने लगी। कोठरी में प्रकाश देख सब का ध्यान उधर हो गया। उस ध्वनि में अत्यंत लालित्य पूर्ण साहित्य, राग रस पूरित, भक्ति युक्त काव्य का मधुर आलाप था। धनंजय वगैरह उस परमामृत का पान बड़ी ही भक्ति पूर्वक आनन्द से कर रहे थे। राजा यह संवाद पाकर वहाँ आ गये। गुरुदेव ने ४८ काव्य कहे। इन्द्रादि देवों की भाँति गुरुदेव ने भगवान को प्रणाम किया। उनके बंधन टूट चुके थे। गुरुदेव वंदना कर के जैसे ही उठे कि सबों ने गुरुदेव को जय जय करते हुये प्रणाम किया।

गुरुदेव ने राजा आदि सज्जनों को धर्म वृद्धि दी। सबों ने प्रेम से गद्गद् होकर गुरुदेव को स्तुति की। राजा अत्यंत पश्चाताप करता हुआ बार बार क्षमा प्रार्थना कर रहा था। गुरुदेव प्रसन्न थे। सार गर्भित शब्दों में उपदेश देकर विहार कर गये।

आदिनाथ स्तोत्र का प्रभाव —गुरुदेव मानतुङ्ग के मुखारविन्द से उद्भूत हुआ श्री आदिनाथ स्तोत्र का अद्भुत चमत्कार देख जनता ने इसे कंठस्थ कर लिया। जैनियों ने इसे ऋद्धि सिद्धि दाता मान स्तोत्र पढ़ने सुनने व सीखने का नियम ही बना लिया। प्राय स्त्रियाँ तो भक्तामर सुने बिना भोजन ही नहीं करती।

श्री आदिनाथ स्तोत्र की रचना, त्यागी, वैरागी एव परम विद्वान के द्वारा हुई है। इसके अर्थ तथा भाव भोगी स्वार्थी, या मिथ्यात्वी, पंडित के समझ में नहीं आ सकते। यदि वह इस के शब्दार्थ बतावें, तब भी उसके भावों का यथार्थ ज्ञान होना असम्भव है। यह साहित्य का भंडार, रस का समुद्र, अलंकार युक्त, मंत्र जंत्र, तंत्र साहित्य काव्य है। इस के पाठन पठन, मनन, चिन्तवन ध्यान से अष्ट ऋद्धि, नव सिद्धि और अन्त में मोक्ष की प्राप्ति होती है। इसको भेद विज्ञानी ही समझ सकते हैं।

दुव कुंड में संवत् ११११५ का एक शिलालेख मिला है। जिस में लिखा है कि 'शान्ति सेन जैन ने राजा भोज की सभा में अनेकों विद्वानों पर विजय प्राप्त की। दूसरा श्रवणबेल गोला के 'शिलालेख' में राजा भोज ने प्रभाचंद्र जैनाचार्य के चरण पूजे। इस से ११वी शताब्दी में राजा भोज का होना सिद्ध होता है। किन्तु श्री मानतुङ्ग स्वामी का इतिहास नहीं मिलता।

ऐसा अनुमान होता है कि श्रीमानतुङ्ग स्वामी जिन कल्पी साधु थे। जिन कल्पी एकाकी रहते हैं। वे आदेश, उपदेश, शिष्य, संघ आदि से भी विरक्त रहते हैं। वे अद्वितीय विद्वान थे। उनकी और कोई कृति उपलब्ध नहीं है। यदि वे स्थविरकल्पी मुनि होते तो उन की और रचनायें अवश्य प्राप्त होतीं। जैनियों के भाग्य से या उनको उपसर्ग के कारण यह छोटासा काव्य उनके लिये पर्याप्त है।

व्याकरण के नियमानुसार इस स्तोत्र में अनेक जंत्र मंत्र हैं। इस काव्य के प्रत्येक अक्षर, मात्रा, पद वाक्य महान चमत्कारिक है।

साहित्य काल्पनिक वस्तु है। इस में कल्पना की उड़ान इतनी रोचक होती है। पाठक उस में अनेक प्रकार का रसास्वादन करते हुये आत्मा की अनंतशक्ति के दर्शन करते हैं। मुझ अल्प बुद्धि से यह मौलिक रचना भक्ति के आवेश में व्यक्त हो गई है। विद्वज्जन दोषों को क्षमा करते हुये त्रुटियों को दूर करें। जिससे अल्प ज्ञानियों को प्रोत्साहन मिले और उन्नति का मार्ग सुगम हो।

—टीकाकार

श्री परमात्मने नमः ॐ श्री भगवदात्मने नमः

॥ श्री परम पारिणामिक भावाय नमः ॥

श्री

※ भक्तामर ※

अपर नाम

श्री आदिनाथ स्तोत्र

भक्तामर प्रणतमौलिमणिप्रभाणा ।
मुद्योतकं दलितपापतमोवितानम् ।
सम्यक् प्रणम्य जिनपादयुगं युगादा ।
वालम्बनं भवजले पततां जनानाम् ॥१॥

अन्वयार्थ —(भक्तामरप्रणतमौलिमणिप्रभाणाम) भक्तिमान देवों के झुके हुए मुकुटों की जो मणियाँ हैं, उनकी प्रभा को (उद्योतक) प्रकाशित करने वाले (दलितपापतमोवितान) पाप रूपी अन्धकार के समूह को नष्ट करने वाले और (भवजले) संसार समुद्र में (पतता) पड़ते हुए (जनाना) मनुष्यों को (युगादौ) युग की आदि में अर्थात् कर्म भूमि के आरम्भ में (आलम्बनं) सहारा देने वाले (जिनपाद युगं) श्री जिन के चरण युगल को (सम्यक्) भलीभाँति (प्रणम्य) प्रणाम करके ॥

श्रीशोभारामजी —

अमर भगत नर मुकुट रतन द्युति जोतिकरन कर ।
पापतिमिर घन हरन नमौं जिन चरन इंदिवर ॥

युग आदि ही भव जलधि, पतत जिनको जिहाज सम ।
इन्द्र नमत श्रुत सकल, तत्त्व ज्ञात, प्रवीण इम ॥
सतवन तिहुँ जग चित हरन, अरथ उदार विचित्र गति ।
श्री आदिनाथ जयवत जग, मन वच काय करों भगति ॥१॥

श्री हेमराजजी —

आदि पुरुष आदीश जिन, आदि सुविधि करतार ।
धरम धुरन्धर परम गुरू, नमों आदि अवतार ॥
सुरनत मुकट रतन छवि करैं, अन्तर पाप तिमिर सब हरैं ।
जिनपद वन्दों मनवचकाय, भवजल पतित उधरन सहाय ॥१॥

श्री नाथूराम प्रेमीजी —

जो सुरन के नत मुकट मणिकी, प्रभा को परकाशते ।
पुनि प्रबल अतिशय पापरूपी तिमिर पुंज विनाशते ॥
अरु जो परे भवजलधियो, अवलंब तिनहि युगादि में ।
जिनदेव के तिन चरण जुगको, नमन करके आदि मे ॥१॥

श्री गिरधरजी —

हैं भक्त देव नत मौलि मणिप्रभा के,
उद्योत कारक विनाशक पाप के हैं ।
आधार जो भव पयोधि पड़े जनों के,
अच्छी तरह नम उन्हीं प्रभु के पदों को ॥१॥

श्री कमलकुमारजी —

भक्त अमर नत मुकट सुमणियों की सुप्रभा का जो भासक ।
पाप रूप अति सघन तिमिर का ज्ञान दिवाकर सा नाशक ॥

भवजल पतित जनों को जिसने दिया आदि में अवलम्बन ।
उनके चरण कमल का करते सम्यक् वारम्बार नमन ॥१॥

श्री नथमलजी –

भक्ति सहित सुर नमत मौलि मणि प्रभा सुउरि रर ।
अन्ता गत अघ तिमिर निपुन जग जीवन के हर ॥
चरन कमल जुग मार नमों मनवच गिरनाई ।
भव जल निधि मे परे तिन्हें उधरन सहाई ॥१॥

भावार्थ आत्मा की और पुद्गल की सम्मिलित उन्नति की द्यातक मनुष्य पयाय है। मनुष्य पर्याय मे समस्त पयाया में गमन और तीनों लोका में भ्रमण हा सक्ता है। दुखा की चरम सीमा सातवाँ नर्क और सासारिक सुखा की चरम सीमा सर्वार्थसिद्धि इस ही से प्राप्त हा सक्ती है। यदि मनुष्य परम सुख के धाम मोक्ष जाना चाहे ता यह भी सुलभ है।

मनुष्य पर्याय पूर्ण स्वतन्त्र है और सर्वोत्कृष्ट है। किन्तु भव भ्रमण का प्रतीक मन सदा विकसित रहता है। मन अपनी कल्पना शक्ति से आत्मा को तीनों लोकों म सवत्र भ्रमण कराता रहता है। भूत, भविष्यत् का दृश्य बनाता है, तथा मकडी क जैसे जाल पूरता हुआ फसता रहता है। आत्मा जिस समय अपनी अनन्त शक्ति को जान जाता है, तब अनन्त सुख समुद्र के प्रतीक श्री जिनेन्द्र भगवान के परम शुद्ध गुणा के चिन्तवन में मन को लगा देता है। तब भव भ्रमण का प्रतीक मन भव भ्रमण के अन्त मोक्ष में आत्मा को पहुँचा देता है।

गुरुदेव कहते हैं कि आपके गुणानुवाद द्वादशाग के ज्ञाता इन्द्रादिदेव कहते हैं। आपके गुणो के चिन्तवन मात्र मे इनकी बुद्धि म पटुता एव प्रवीणता इतनी बढ गई है कि अन्य द्वादशाग के ज्ञाता उनके निकले हुए स्तवन को सुनकर चकित हो रहे हैं ॥१॥

य सस्तुत सकलवाङ्मयतत्त्वबोधा ।
दुद्भूतबुद्धिपटुभि सुरलोकनाथै ॥
स्तोत्रैर्जगत्त्रितय चित्त हरै रुदारै ।
स्तोष्ये किलाहमपि त प्रथम जिनेन्द्रम् ॥२॥

अन्वयार्थ —(सकल वाङ्मय तत्त्व बोधात्) सम्पूर्ण द्वादशाग रूप जिनवाणी का रहस्य जानने से (उद्भूत बुद्धि पटुभि) उत्पन्न हुई जो बुद्धि उससे प्रवीण ऐसे (सुरलोकनाथै) देव लोक के स्वामी इन्द्रो ने (जगत्त्रितयचित्तहरे) तीन जगत के चित्त हरण करने वाले (उदारै) विस्तृत (स्तोत्रै) स्तोत्रों के द्वारा (य सस्तुत) जिनकी स्तुति की (त) उस (प्रथम जिनेन्द्रम्) प्रथम तीर्थंकर श्री ऋषभदेव का (किल) निश्चय है कि (अहम् अपि) मैं भी (स्तोष्ये) स्तवन करता हूँ ॥२॥

श्री शोभारामजी — यह दूसरा काव्य पहले काव्य में ही है ।

श्री हेमराजजी —

श्रुत पारग इन्द्रादिक देव, जाकी थुति कीनीकर सेव ।
शब्द मनोहर अरथ विशाल, तिस प्रभु की बरनों गुनमाल ॥२॥

श्री नाथूराम प्रेमीजी —

अचरज बडो जो शक्ति बिन हूँ, करहूँ थुति सुख कारिनी ।
तिन प्रथम जिन की परम पावन, अरु भवोदधि तारिनी ॥
जिनकी त्रिजग जन मन हरन वर, विशद विरद सुहाई है ।
हरि ने सकल श्रुत तत्त्व बोध, प्रसूत बुधि से गाई है ॥२॥

श्री गिरधरजी —

श्री आदिनाथ विभु की स्तुति मै करूँगा,
वो देव लोक पति ने स्तुति की है जिन्हों की ।

अत्यन्त सुन्दर जगत्त्रय चित्तहारी,
सुस्तोत्र से सकल शास्त्र रहस्य पाके ॥२॥

श्री कमलकुमारजी —

सकल वाङ्मय तत्त्व बोध से उद्भव पटुतर धी धारी।
उसी इन्द्र की स्तुति से है वन्दित जग जन मनहारी॥
अति आश्चर्य कि स्तुति करता उसी प्रथम जिन स्वामी की।
जग नामी सुखधामी तद्भव शिवगामी अभिरामी की ॥२॥

श्री नथमलजी —

जाकी थुति सब करत नाकपति,
उर माँहि धरि प्रेम अपार।
द्वादशांग श्रुत जानि जिन्हें,
मति की प्रवीणता उपजी सार॥
त्रिभुवन जन मन हर,
थुति कीनी जासु बढ़े पुन्य भण्डार।
ऐसे आदि देव जिनकी थुति,
हम करि है निज मति अनुसार ॥२॥

भावार्थ —आपके चरण कमल की नौका भव समुद्र में अभव्यों को छोटी सी दीखती है। वे भय से उसके लंगर की तरफ दृष्टि ही नहीं देते। वास्तव में भव समुद्र अपार है। उसमें कर्म, नोकर्म के सूक्ष्म और स्थूल नाना प्रकार के पुद्गल पिंड अनन्त भरे पड़े हैं। जिन्हें प्रत्येक प्राणी अपनी योग्यतानुसार ग्रहण करके नाना प्रकार के स्वाँग बनाते रहते हैं।

मोह राजा और दर्शनमोहनीय में अनादि से सम्बन्ध है। दोनों में अगाध प्रेम है। कामदेव और रति के समान दोनों सदा साथ

रहते हैं। दोनों के सयोग से मात्र प्राणियों के तृष्णा रूपी सतति उत्पन्न होती रहती है। जिसके पालन पोषण म सब ही प्राणी अपना समय बिताते रहते हैं। एक के परिपक्व होने से पहले ही दूसरी सन्तान उत्पन्न होती जाती है। इस प्रकार इसका अन्त कभी नहीं होता।

जिन प्राणियों की काल-लब्धि आगई है, वे आपके निर्विकार शुद्ध आत्मा के दर्शन पाते हैं। उनकी दर्शन मोहनीय का मोह राजा से सम्बन्ध टूटता जाता है। तब जनन क्रिया स्वयमेव स्थगित होती जाती है। तथा माता के पोषण बिना संतति स्वयमेव निर्बल होती प्राण विसर्जन कर देती है। मोहराजा दर्शनमोहनीय के वियोग म स्वय अपना अस्तित्व खो देता है। आत्मा अपनी अनन्त निधि पाकर उस ही म लीन होती जाती है।

भरतक्षेत्र के अठारह कोडा कोडी सागर में बड बडे विशाल काय, दीर्घायु, परम स्वस्थ असख्य मनुष्य जन्म लेकर कूच कर गये। किन्तु इस तृष्णा की उत्पत्ति के वास्तविक रहस्य को किसी ने नहीं जाना। इस युग के आप ही प्रथम पुरुष हैं जिन्होंने भोग भूमि के क्षेत्र को कर्म भूमि का क्षेत्र बनाया। आत्मा और कर्म का भिन्न भिन्न स्वरूप बताया। कर्मों से कर्मों को भगाया और निज स्वरूप को प्रगटाया है। जिन कर्मों का आत्मा पर आवरण था, उन सब कर्मों को अपने आप म समा लिया।

गुरुदेव कहते हैं कि आपके गुणानुवाद द्वादशांग के ज्ञाता इन्द्रादि देव करते हैं। अपने गुणों के चिन्तवन मात्र से इनकी बुद्धि में पटुता एव प्रवीणता इतनी बढ गई है कि अन्य द्वादशांग के ज्ञाता उनके मुख से निकले हुए स्तवन को सुनकर चकित हो रहे हैं। तीनों लोकों के समस्त प्राणी स्तवन म अपना मन अर्पण कर चुके हैं। मेरा मन भी आपके स्तवन में अर्पित हो गया है। तब भी मेरे मुख से आपका स्तवन हो रहा है। इसका मुझे स्वय आश्चर्य है ॥२॥

बुद्ध्या विनापि विबुधार्चितपादपीठ
स्तोतुं समुद्यतमतिर्विगतत्रपोऽहम् ।
बालं विहाय जलसंस्थितमिन्दुबिम्ब
मन्य: क इच्छति जन: सहसा ग्रहीतुम् ॥३॥

अन्वयार्थ —(विबुधार्चित पादपीठ) देवता नहीं जिसके सिंहासन की पूजा की है। ऐसे हे जिनेन्द्र (बुद्ध्या विना) बुद्धि के विना (अपि) ही (विगत त्रप) लज्जा रहित (अहम्) मैं (स्तोतु) आपका स्तवन करने को समुद्यत मति) उद्यतमति हुआ हूँ अर्थात् तत्पर हुआ हूँ (बालंविहाय) बालक के सिवाय (अन्य) दूसरा (क) कौन (जन) मनुष्य ऐसा है जो (जल संस्थित) जल में दिखाई देने वाले (इन्दुबिम्बं) चन्द्रमा के प्रतिबिम्ब को (सहसा) एकाएक (ग्रहीतुम्) पकड़ने के लिए (इच्छति) इच्छा करता है ॥३॥

श्री शामारामजी —

देव अरचित अनुपम तुव पादपीठ,
मति विन शोभा कैसे कहूँ मैं बनाय के ।
लाज तज कहत निमक ते गुणानुवाद,
भक्ति के प्रसाद धीठ रीति इह भाइके ॥
जैसे चन्द्र प्रतिबिम्ब जल कुंड में निहार,
बालक गहत ताहि निजकर नाइके ।
जैसे ज्ञान हीन कछु जानों न अरथ भेद,
तो भी हों रहत हित हेत हो बढ़ाइके ॥३॥

श्री हेमराज जी —

विबुध वंद्य पद में मतिहीन, होय निलज्ज थुति मनसा कीन ।
जल प्रतिबिम्ब बुद्ध को गहै, शशि मंडल बालक ही चहै ॥३॥

श्री नाथूराम प्रेमीजी —

है अमर पूजित पद तिहारी, थुति करन के काज मे।
बुधि बिना ही अति ढीट बनिके, भयउ उद्यत आज मै॥
जल म परयो प्रतिबिम्ब शशिको, देख महसा चाव सों।
तनिक शिशुन को को सुजन जन गहन चाहैं भाव सों॥३॥

श्री गिरधरजी —

हूँ बुद्धि हीन फिर भी बुध पूज्यपाद,
तैयार हूँ स्तवन को निर्लज्ज होके।
है और कौन जगम तन बाल को जो,
लेना चहै सलिल सस्थित चन्द्र बिम्ब॥३॥

श्री कमलकुमारजी —

स्तुति को तैयार हुआ हूँ मैं निर्बुद्धि छोडि के लाज।
विज्ञ जनो मे अर्चित हे प्रभु मद बुद्धि की रखना लाज॥
जल में पडे चन्द्र मडल को बालक बिना कौन मतिमान।
सहसा उसे पकड़ने वाली प्रबलेच्छा करता गतिमान॥३॥

श्री नथमलजी —

दवनि करिके नन्दनीक तुम चरण सिवानी।
मैं मतिहीन निलज्ज करन थुति मनसा ठानी।
बालक बिन जल बिमैं चन्द्र प्रतिबिम्ब गहन की।
महसा को नर सुधी करै वाछा निज मनकी॥३॥

भावार्थ —मेरे मुख से उन ऋषभदेव भगवान का स्तवन हो रहा है। जिनका स्तवन द्वादशांग के ज्ञाता समस्त देवों के स्वामी इन्द्र के द्वारा हुआ है और जिनकी पहुँच केवल सिंहासन तक ही रही और वे उनके शरीर का स्पर्श करने में असमर्थ रहे। मैं उनमें

और अपने में विशाल अन्तर देख रहा हूँ। उनको ज्ञान अगाध है, मेरा ज्ञान अल्प है क्षायोपशमिक है। त्याग और विराग से ज्ञान के आवरण दूर करने की मुझ में योग्यता प्रतीत होती है।

पाडित्य और भक्ति में बहुत अन्तर है पंडित तर्क, छन्द, व्याकरण साहित्य आदि द्वारा आकर्षक, सुन्दर वाक्य रचनाओं से अपने कार्य की सिद्धि मानता है। किन्तु भक्त अपने को बुद्धिहीन अल्पज्ञ, पतित और अपावन आदि मानकर अपना अस्तित्व ही ध्येय में समर्पण कर देता है। अपना अस्तित्व समर्पण करने वाले भक्त के मुख से जो वाक्य निकलते हैं, वे बालक के समान शुद्धहृदय से भाव प्रगट करने के लिये ही हैं। अतः वह स्तवन केवल भावों का ही द्योतक है।

बालक के पास शब्दों का समूह नहीं है। न उसे कर्ता, कर्म, क्रिया आदि का विचार है। न उसे भले बुरे, हानि लाभ आदि का ज्ञान है। वह अपने भाव प्रकट करने के लिये पद, वाक्य कहता है। वैसे ही मुनि अपना मुनि धर्म पालने के लिये बालक में भी अपने हृदय को सरल, छल, कपट रहित बनाते हैं, मुनि अपने बृहत् गुणों की उपेक्षा करते हैं। वे आत्मा में अनन्त ज्ञान तथा अनन्त गुण मानते हैं। वे अल्प गुणों के प्रगट होने से कैसे अपने को पूर्ण मानलें। वे तो अपने अल्प दोषों को बृहत् मानते हैं। अतः वे अपने अल्प दोषों की वृहत् व्याख्या करके गुरु से अल्प दोष का वृहत् दण्ड पाकर परम प्रसन्न होते हैं।

गुरु ऐसे शिष्यों को साकार से निराकार के ध्यान का मार्ग बताते हैं। पदस्थ, पिंडस्थ, रूपस्थ, रूपातीत का अनुभव कराते हैं। शिष्य रूपातीत पदार्थ को अपनी कल्पना द्वारा अपनी आत्मा में उसका प्रतिबिम्ब देखते हैं। उनके सामने जब कोई अनुपम दृश्य बन जाता है, तब हर्ष से उसमें (प्रतिबिम्ब में) ही लय होने की चेष्टा करते हैं। वे अपनी पूर्वापर अवस्था को भूल जाते हैं, उनकी दशा उस समय उस बालक के समान हो जाती है जो जल सस्थित

च‍ंद्र प्रतिबिम्ब को पकड़ने की चेष्टा कर रहा हो।

गुरुदेव अपने को अल्प ज्ञानी मानते हैं और इन्द्रादि देवों को द्वादशांग के ज्ञाता। जब इन्द्रादि देवों का ही सिंहासन तक अर्चा पूजा मात्र से ही सन्तोष करना पड़ता है, तथा वे परम तेजोमय भगवान का स्पर्श नहीं कर सकते। ऐसी स्थिति में उन भगवान तक पहुँचने की अभिलाषा से जो मैं स्तुति कर रहा हूँ, यह मेरी अल्पज्ञता पर ढाँकता है। ऐसी चेष्टा निरी अज्ञानी बालक की होती है। जो पानी में पड़े हुए चन्द्रमा के प्रतिबिम्ब को पकड़ने के लिये उद्यत होते हैं ॥३॥

वक्तुं गुणान्गुणसमुद्रशशाङ्ककान्तान्,
कस्ते क्षमः सुरगुरुप्रतिमोऽपि बुद्ध्या।
कल्पान्तकालपवनोद्धतनक्रचक्रं,
को वा तरीतुमलमम्बुनिधिं भुजाभ्याम् ॥४॥

अन्वयार्थ—(गुण समुद्र) हे गुणों के समुद्र (ते) तुम्हारे (शशाङ्ककान्तान्) चन्द्रमा की कान्ति जैसे उज्ज्वल (गुणान्) गुणों के (वक्तुं) कहने को (बुद्ध्या) बुद्धि से (सुर गुरु प्रतिमः अपि) देवगुरु बृहस्पति के समान भी (कः) कौन पुरुष ऐसा है जो (क्षम) समर्थ हो? क्योंकि (कल्पान्त काल पवनोद्धत नक्र चक्रं) प्रलय काल की आँधी से उछलते हैं मगरमच्छों के समूह जिसमें ऐसे (अम्बुनिधिं) समुद्र को (भुजाभ्याम्) भुजाओं से (तरीतुम्) तैरने को (को वा) कौन पुरुष (अलम्) समर्थ हो सकता है। अर्थात् कोई भी नहीं।

श्री शोभाराम—

हे गुण समुद्र तो अपार गुण कहिवे को,
समरथ कौन सुरलोक माँझ नर है।

सुर गुरु मति उपमान न समान कोऊ,
यद्यपि हैं तोउ अति गहरो अन्तर हैं ॥
प्रबल पवन से उछरे जल जतु गण,
ताग अनंत अबुनिधि हो गहर हैं।
ताके तरिबे को निजभुज बल समरथ,
कौन हैं पुमान बलवान धीरवर हैं ॥४॥

हेमराज —
गुन समुद्र तुम गुण अविकार, कहत न सुरगुर पावें पार।
प्रलय पवन उद्धत जल जंतु, जलधि तिरैं को भुज बल रतु ॥४॥

श्री नाथूराम प्रेमीजी —
हे गुण निधे शशि सम समुज्ज्वल, कहन तुव गुणगण कथा।
सुर गुरु क समूह गुनी जन, हैं न समरथ सर्वथा ॥
जामें प्रलय के पवन उद्धत, प्रबल जल जतु हैं।
तिस जलधि को निज भुजनिसों, तिर सकैं को बलवंतु हैं ॥४॥

श्री गिरधरजी —
होवे वृहस्पतिसमान सुबुद्धि तो भी,
हैं कौन जो गिन सके तव सद्गुणों को।
कल्पान्त वायु वश सिन्धु अलघ्य जो हैं,
हैं कौन जो तिर सके उसको भुजा से ॥४॥

श्री कमलकुमार जी —
हे जिन चन्द्र कान्त से बढ़कर तव गुण विपुल अमल अति श्वेत।
कह न सके नर हे गुण सागर सुरगुरु के सम बुद्धि समेत ॥
मक्र, नक्र चक्रादि जन्तु युत प्रलय पवन से बढ़ा अपार।
कौन भुजाओं से समुद्र के हो सकता है परले पार ॥४॥

श्री हमराजजी —

सो मैं शक्तिहीन थुति करूँ, भक्तिभानवश कछु नहि डरूँ।
ज्यों मृगि सुत निज पालन हेत, मृगपति सन्मुख जाय अचेत ॥५॥

श्री नाथूराम प्रेमीजी —

मुनिनाथ मैं उद्यत भयउ जो, विरद पावन गान को।
सो एक तुव पद भक्ति के वश, भूलि निज बल ज्ञानको॥
ज्यों प्रीतवश निजबल विचार बिना स्ववत्स बचाइवे।
अति दीन हूँ हरिनी डरै नहि, सिंह सनमुख जायवे॥५॥

श्री गिरधरजी —

हूँ शक्ति हीन फिर भी करने लगा हूँ,
तेरी प्रभो स्तुति हुआ वश भक्ति के मै।
क्या मोह के वश हुआ शिशु को बचाने,
है सामना न करता मृग सिंह का भी॥५॥

श्री कमलकुमारजी —

वह मै हूँ कुछ शक्ति न रखकर, भक्ति प्रेरणा से लाचार।
करता हूँ स्तुति प्रभु तेरी, जिमे न पौर्वापर्य विचार॥
निज शिशु की रक्षार्थ आत्मबल, बिना विचारे क्या न मृगी।
जाती है मृग पति के आगे प्रेम रंग मे हुई रँगी॥५॥

श्री नथमलजी —

हे मुनीश मैं शक्ति हीन थुति तोहि उचारों।
भक्ति भार वस तेज चित्त म भय नहीं मानों॥
निज शिशु पालन हेत आपनु बल, न बिचारै।
मृग हरि सनमुख जाय मरण निज नाहिं निहारै॥५॥

भावार्थ --आपके गुण रूपी समुद्र का पार पाना असम्भव है। प्रत्यक्ष में आप मुझसे भिन्न मालूम होते है। वास्तव में यदि वस्तु स्वरूप को देखें तो आप में और मुझ में लेश मात्र भी भिन्नता नहीं है। आप में और मुझ में पूर्ण सदृश्यता है। मेरा और आपका आदि स्थान एक ही है। आप और मैं जब से व्यवहार राशि में आये हैं तब से ही इस संसार में परिभ्रमण कर रहे हैं। आपने और मैंने अनन्त वार समस्त लोक में भ्रमण किया है। सब प्रकार की पर्यायें धारण की है। नर्कों की घोर वेदनायें सही हैं। अनन्त वार आपका और मेरा सम्बन्ध बना और विगडा है। स्त्री पति, पुत्र, माता, पिता, भाई बहिन, मित्र शत्रु आदि का सम्बन्ध अनेक वार बना है। न आप मुझ से बड़े हैं, न मैं आपसे छोटा हूँ। न आप मे मुझ से अधिक गुण हैं न मेरे आपसे गुणों मे न्यून हैं। यह संसार नाटक घर है। इसमें समस्त प्राणी समान है। सब आत्माओं में अणु मात्र भी अन्तर नहीं है। सब ही अनन्त ज्ञान, दर्शन सुख, वीर्य युक्त हैं। केवल स्वाँगों से विचित्रता मालूम पड़ती है। स्वाँग हम लोगों को प्रतिक्षण परवस बदलना पड़ता है। आपने परवश स्वाँग बनाना सर्वथा छोड दिया है। आप दर्शक बन गये हैं। हम दृश्य हैं। आप में निज गुण व्यक्त हो गये हैं, हमारे गुणों के व्यक्त होने में मोहराज बाधक हो रहा है। आपने उस पर विजय प्राप्त करली है। हमें करनी है। आपने जिस रीति से मोहराज की अधीनता दूर की है, उस रीति को आत्मसात् करने के लिये मैं आप में अनुरक्त हो रहा हूँ। मैं स्वयं को अयोग्य और अशक्त जानते हुए भी आपके स्तवन में प्रवृत्त हो रहा हूँ।

गुरुदेव कहते हैं कि बलवान सिंह से सारे पशु भयभीत हैं। हरिणी उसकी गंध मात्र से प्राण बचाने के लिये कंटकाकीर्ण झाड़ियों में छिप जाती है। किन्तु हरिणी का अबोध बच्चा जब बाहर खेलता हुआ सिंह के पंजे में आ जाता है, तब हरिणी बिना अपनी शक्ति का विचार किये झाड़ी से निकल कर मोह वश अपने बच्चे की रक्षा के लिये सिंह करती है। वैसे ही मैं

तल्लीन हुआ अपनी शक्ति और योग्यता को भूल आपका स्तवन कर रहा हूँ ॥५॥

अल्पश्रुत श्रुतवता परिहासधाम,
त्वद्भक्तिरेव मुखरीकुरुते बलान्माम् ।
यत्कोकिल किल मधौ मधुर विरौति,
तच्चारुचाम्रकलिकानिकरैकहेतु ॥६॥

अन्वयार्थ —(अल्पश्रुत) थोड़ा है शास्त्र ज्ञान जिसको ऐसे और (श्रुतवता) शास्त्र के ज्ञाता पुरुषों के (परिहासधाम) हँसी के स्थान ऐसे (माम) मुझको (त्वत् भक्ति) तुम्हारी भक्ति (एव) ही (बलात) बलपूर्वक (मुखरी कुरुत) वाचाल करती है । क्योंकि (कोकिल) कोयल (किल) निश्चय से (मधौ) बसन्त ऋतु में (यत) (मधुर विरौति) मधुर शब्द करती है (तत् चारु चाम्रकलिका निकरैक हेतु) सो उत्तम आम वृक्षों के बौर का (मन्जरी का) समूह ही एक कारण है ॥ ६ ॥

श्री शोभारामजी —

आगम अध्यातम के भेद जानौं नाहीं कुछ,
पंडित के हँसिबे को धाम हौं स्वभाव तैं ।
भगति तुम्हारी मोहि सकति बुलावति है,
वाचाल करति तुच्छ बुद्धि चित चाव तें ॥
कोकिल ज्यौं बोलत बसंत रुत माँझ बैन,
मधुर मधुर अति सुर दरसाव तें ।
जानिये जु या ऋतु में बोलत विशेषता सो,
आम की कली के गन्ध हेत परभाव तैं ॥

कछु न तोहि देख के जहाँ तुहि विशेखिया,
मनोग चित्त चोर और भूल हूँ न पेखिया ॥२१॥

श्री नाथूराम प्रेमी जी —

हरिहर आदिक देवन को ही अवलोकन मोहि भावै,
जिनहिं निरख कर जिनवर तुममें हृदय तोष अति पावै ॥
पै कहाँ तुम दरशन सो भगवान, जो इस जग के माहीं।
परभव में हूँ अन्य देव मन हरिवे समरथ नाहीं ॥२१॥

श्री गिरधर जी —

देखे भले अपि विभो पर देवता हो,
देखे जिन्हें हृदय आ तुझ में रमे ये।
तेरे विलोकन किये फल क्या प्रभो जो,
कोई रमे न मन में पर जन्म में भी ॥२१॥

श्री कमलकुमार जी —

हरि हरादि देवों का ही मैं मानूं उत्तम अवलोकन।
क्योंकि उन्हें देखने भर से तुमसे तोषित होता मन ॥
हैं परन्तु क्या तुम्हें देखने से हे स्वामिन मुझको लाभ।
जन्म जन्म में भी न लुभा पाते कोइ यह मम अभिताप॥२१॥

श्री नथमल जी —

हरिहर आदिक देव देख मैं भलों जो मानों।
वीतराग तुम रूप जिन्हो लखि के पहिचानों ॥
तुम स्वरूप को देख चित्त तुम माहिं लुभावै।
अन्य मनोहर रूप भवान्तर मे न सुहावै ॥२१॥

मन्ये वर हरिहरादय एव दृष्टा,
दृष्टेषु येषु हृदयं त्वयि तोषमेति ।
किं वीक्षितेन भवता भुवि येन नान्य,
कश्चिन्मनो हरति नाथ भवान्तरेऽपि ॥२१॥

अन्वयार्थ—(नाथ) हे नाथ मैं (हरिहरादय दृष्टा एव) हरि हरादिक देवो का देखना ही (वर मन्ये) अच्छा मानता हूँ। (येषु दृष्टेषु) जिनके देखने से (हृदय) हृदय में (त्वयि) तुम में (तोषं) सताष को (एति) पाता है और (भवता वीक्षितेन) आपके देखने से (किं) क्या (येन) जिससे कि (भुवि) पृथ्वी में (अन्य कश्चित्) कोई अन्यदेव (भवान्तरे अपि) दूसरे जन्म में भी (मन न हरति) मन हरण नहीं कर सकता ॥

श्री सोभाराम जी —

हरि हर आदिक सराग देव जे अनेक,
तिनको विलोक सुभ रीति नहिं मानिये ।
तिनके दरश से ही होय चित्त ऐसे भाव,
एक वीतराग जिन तुही तैं प्रमानिये ॥
इह भुविलोक माँझ तुम को निहारिवे से,
सधै नहीं जग काज अन्य न बखानिये ।
जातें जनमान्तर मे मन न हरित और,
हृदय सतोष नाथ तुमही तैं जानिए ॥२१॥

श्री हेमराज जी —

सराग देव देख मे भला विशेष मानिया,
स्वरूप जाहि देख वीतराग तू पिछानिया ।

कछु न तोहि देख के जहाँ तुहि विशेखिया,
मनोग चित्त चोर और भूल हूँ न पखिया ॥२१॥

श्री नाथूराम प्रेमी जी —

हरिहर आदिक देवन को ही अवलोकन मोहि भावै,
तिनहिं निरख कर जिनवर तुममें हृदय तोष अति पावै ॥
पै कहाँ तुम दरशन सो भगवान, जो इस जग के माहीं ।
परभव में हूँ अन्य देव मन हरिवे समरथ नाहीं ॥२१॥

श्री गिरधर जी —

देखे भले अपि विभो पर देवता ही,
देखे जिन्हें हृदय आ तुझ में रमे ये ।
तेरे विलोकन किये फल क्या प्रभो जो,
कोई रमे न मन में पर जन्म में भी ॥२१॥

श्री कमलकुमार जी —

हरि हरादि देवों का ही मैं मानू उत्तम अवलोकन ।
क्योंकि उन्हें देखने भर से तुममे तोषित होता मन ॥
है परन्तु क्या तुम्हें देखने से हे स्वामिन मुझको लाभ ।
जन्म जन्म में भी न लुभा पाते कोई यह मम अभिताप॥२१॥

श्री नथमल जी —

हरिहर आदिक देव देख मैं भलों जो मानों ।
वीतराग तुम रूप तिन्हों लखि के पहिचानों ॥
तुम स्वरूप को देख चित्त तुम माहिं लुभानै ।
अन्य मनोहर रूप भवान्तर मे न सुहानै ॥२१॥

भावार्थ—काँच और हीरे म अन्तर जौहरी बने बिना मालूम नहा होता। खान से निकला हीरा एक चमकीला, पिंडरूप पत्थर सा मालूम होता है। और पालिश तथा सुडोल बनाया हुआ काँच खड प्रिय, कीमती मालूम होता है। ऐसी अवस्था में सर्व साधारण तो काँच खड को ही पसद करते हैं। अत काँच और हीरे को जानने से पहले रत्न परीक्षक होना आवश्यक है।

रत्ना की परीक्षा काँच और हीरे के यथार्थ रूप को जाने बिना नहा हो सकती। सुडोल और पालिश किये हुए हीरे हमारी दृष्टि के अन्तर्गत नहा है। और काँच के टुकडा से सारा ससार भरा पड़ा है। अत हम काँच खड को भले पकार देख तथा अनुभव करें। हीरे के यथार्थ रूप की श्रद्धा बनायें रक्खें तो काँच को देखने से हीरे का अभाव अनुभव होते होते हीरे का दखने की उत्कृष्ट अभिलाषा अपने आप बढ जाती है।

संसार एक नाटक घर है। नाटक दखने वाले पात्र और दर्शक दो ही प्रकार के जीव रहते हैं पात्रा को नाना प्रकार के स्वाग बनाने पड़ते हैं। और उस स्वाग के अनुसार क्रिया करनी पड़ती है। दर्शक अपने स्थान पर बैठे बैठे सारे स्वाग देखते रहते हैं। दर्शक को यह ज्ञान है, यह अमुक प्राणी है। चडाल के स्वाग में झाड़ू-टोकरा लेकर आया था, उस समय झाड़ू लगा रहा था, तथा घूडा-कचरा उठा रहा था। अब वैश्य का स्वांग बना के लेन देन व्यौपार करता है। क्षत्री का स्वाग बनाके तलवार, ढाल हाथ में लिये है। ब्राह्मण के स्वाग में पठन पाठन तथा तिलक छापे लगाये हुये हैं। राजा बनकर दूसरों को दड देता है। चोर बनकर हथकड़ी बेड़ी पहनता है इत्यादि। एक ही प्राणी नाना प्रकार के स्वाग बना बना अपने अपने योग्य काय करता है। पात्रों को स्वाग बनाने में इन्कारी नहीं हो सकती। स्वांग तो प्रति समय नियमानुसार धारण करना ही होगा। किन्तु स्वाग बनावे, खेलते व दूसरे के स्वाग को देखते, जानते रहें तो उन्हें इसके लिए मनाई भी है। जो अपने यथार्थ रूप

और स्वाग को जानते हैं, व सम्यक्दृष्टि कहे जाते हैं। जो अपने को भिन्न समझ स्वाग से उदास रहते हैं वे देशव्रती और स्वाग से सर्वथा उदास रहते हैं उनकी क्रिया में अरुचि और आत्मा में रुचि रखत हैं वे महाव्रती कहे जाते हैं। पात्रों से केवल दर्शक बनने का इस काल में यहाँ किसी को अधिकार नहा है। पात्र का स्वाग भरत भरत दर्शक रह तो कोइ बाधा नहा है। ससार में अनन्त प्रकार के आश्चर्य-जनक स्वाग आते हैं। जैसे सूअर, सिंह, मच्छादि के रूप में विशेषता बना कर अपने को भगवान् कहाते हैं। कोई नाग शय्या पर सोते हैं, कोई सिंह, बैल, कमल पर बैठते हैं। कोई चार, छः शीश बनाते हैं। और कोई उन्हें भगवान मान पूजा, सत्कार करते हैं ।

गुरुदेव कहते हैं कि मुझे हरि हरादि देवों का स्वाग देखना प्रिय है। क्योंकि एक ही प्रकार के प्राणी स्वाग की अवस्था को देख अपने वास्तविक स्वरूप को भूल स्वागमय बन जाते हैं। उन्हें देख देख मेरे हृदयमें तेरे स्वरूप की वास्तवता से श्रद्धा बैठती जाती है। वर्त्तमान काल में मुझ में शक्ति नहा, कि जो सदा तुझे देखता रहूँ। किन्तु मेरा दृढ़ विश्वास है कि तुझे एक लय से अन्तमुहूर्त भी देखते रहें तो उसके जनम जन्मान्तर स्वप्न में भी नहा होते। अर्थात् वह जनम, मरण से रहित हो जाते हैं ॥२१॥

स्त्रीणा शतानि शतशो जनयन्ति पुत्रान् ।
नान्या सुत त्वदुपम जननी प्रसूता ।
सर्वा दिशो दधति भानि सहस्ररश्मि ।
प्राच्येव दिग्जनयति स्फुरदशुजालम् ॥२२॥

अन्वयार्थ —हे भगवान (स्त्रीणाशतानि) स्त्रियों के सैंकड़ों अर्थात् सेकड़ों स्त्रिया (शतश) सैंकडा (पुत्रान्) पुत्रों को (जनयन्ति) जनती है परन्तु (अन्या) दूसरी (जननी) माता (त्वदुपम) तुम्हारे जैसे (सुत) पुत्र को (न प्रसूता) उत्पन्न नहीं

कर सकती। सो ठीक ही है। क्योंकि (सर्वादिश) सम्पूर्ण अर्थात् आठों दिशायें (भानि) नक्षत्रों को (दधति) धारण करती हैं। परन्तु (स्फुरत् अ शुजाल) देदीप्यमान है किरणों का समूह जिसका ऐसे (महस्त्र रश्मि) सूर्य को एक (प्राचीन्दिक् एव जनयति) पूर्व दिशा ही उत्पन्न करती है॥ २॥

श्री शोभारामजी —

सत सत जननी अनत भुवलोक माझ,
सत मत पुत्रनि को निविध जनति है।
तो समान आन उपमान न पुमान ओर,
तुव जननी समान और नाहीं होत है॥
जैसे नभ मडल में दसों दिसि तारागण,
उदय करत नहिं कारज सरत है।
दिनकर सहस किरनि सों उद्योत होत,
पूरब ही दिशि एक सुधी यो भनत है॥२२॥

श्री हेमराजजी —

अनेक पुत्र वतनी नितम्बिनी सपूत हैं,
न तो समान पत्र और मात ते प्रसूत है।
दिशा धरत तारिका अनेक कोटि को गिनै,
दिनेश तेजवत एक पूर्व ही दिशा जन॥२२॥

श्री नाथूराम प्रेमीजी —

अहंसकडों शुभगा नारी जो बहु सुत उपजावैं।
पैं तुम सम सुपूत की जननी यहाँ न और दिखावैं॥
यद्यपि दिशि विदिशाएँ सिगारी, धरैं नक्षत्र अनेका।
प प्रतापि रवि को उपजावै, पूर्व दिशा ही एका॥२२॥

श्री गिरधरजी —

मायें अनेक जनती सुतों को,
है किन्तु वे न तुझ से सुत की प्रसूता।
सारी दिशा धर रही रवि का उजेला,
पै एक पूरब दिशा रवि को उगाती ॥२२॥

श्री कमलकुमारजी —

सौ सौ नारी सौ सौ सुत को जनती रहती सौ सौ ठौर।
तुम से सुत के जनने वाली, जननी महती क्या है और ॥
तारा गण को सर्व दिशाएँ धरे नहीं कोई खाली।
पूर्व दिशा ही पूर्ण प्रतापी दिन पति को जनने वाली ॥२२॥

श्री नथमलजी —

है नितवनी बहुत बहुत सुत मनके होई।
तो समान सुत मात और जनि है नहीं कोई ॥
उड़गन धरत अनेक दिशा निदिशा जे सारी।
जनत पूर्व दिशि एक दिवाकर तम अनिवारी ॥२२॥

भावार्थ—आपको अन्तमुहूर्त देखने वाला आप समान ही दर्शक बन जाता है। किन्तु वर्त्तमान में ऐसे प्राणी ही उत्पन्न नहीं होते हैं। क्योंकि उनको जन्म देने वाली माताएँ ही नहीं हैं।

मेरी तीव्र अभिलाषा है कि तेरे में स्थिर हो जाऊँ। किन्तु मन तो एक क्षण भी स्थिर नहीं होने देता। पंचमकाल बहुत बडा और विकट मालूम हो रहा है। कुछ ही वर्षों में केवली, श्रुत केवली, द्वादशांग के ज्ञाता, अंग ज्ञानियों का अभाव हो गया। बुद्धि में अनेक विकार हो गये। कर्म जनित बुद्धि के विचार को ही ज्ञान का स्वरूप मान एक दूसरे के विरुद्ध हो जाते हैं। कषायों के वेग बढ रहे हैं। मिथ्यात्व का अंधकार बढता जाता है। चारों ओर अंधकार

ही अन्धकार दिखाई पड रहा है। ऐसी परिस्थिति प्रारम्भ में ही है, तो आगे जाकर क्या होगा ? यह कल्पना भी नहीं बनती।

पुरुष जाति की ऐसी अवस्था है, जिसको महा ऋषिगण, सब श्रेष्ठ कहते आये हैं। जिस पर्याय से कर्मों का नाश सर्वथा किया जा सकता है, वह वर्त्तमान म कर्मों की जजीर से जकडी हुई है। उन्ह चूँ तक करने की शक्ति नहा रही। इसम काल का दोष तो कहा जाता है, किन्तु प्रधान हमारा ही दोष है। क्योंकि हमने अपने अर्द्धाङ्ग को बेकार कर लिया है। उसकी निन्दा करके, लिख लिख कर बडे बडे पोथे बना दिये। जिसे सुन, पढकर मनुष्यों के दिमाग खराब हो गय। स्त्रियाँ अपने को नीच और अयोग्य समझने लगी। स्वामी सेवक के से भाव बन गये। स्त्रियाँ केवल पुरुषों क उपभोग सामग्री और बच्चे जनन की मशीन बन गई। सैंकडा स्त्रियाँ सैंकडों की सख्या में कूकरी सूकरियों के जैसे प्रसव करती है। उनकी शक्ति, उनक भाव गिर जाने से आज हमारी स्थिति ऐसी हो गई। ऊँच बनने क लिये जड़ मजबूत होनी चाहिये। हम शास्त्रों म यही पढते हैं कि भगवान् जेंस पुत्र क लिय माता की सेवा और उसे ऊँच बनाने की कितनी आवश्यकता है।

तीर्थंकरों के गर्भ म आने स पहिले छप्पन कुमारियाँ माता की सेवा करती हैं। उनको देवोपनीत भोजन पान कराती हैं। उनके गर्भस्थान को उत्पाद शैया सी बना देती हैं। सदा उनको प्रसन्न रखती हैं। माता की आज्ञा का अक्षरश पालन करती हैं। इन्द्रादि देव सर्वोत्तम स्वर्गीय सामग्री से उनके महल, मकानात,नगरी तक को सजाते हैं। उनकी प्रसन्नता की वृद्धि, इच्छा की पूर्ति म देवियाँ अपना सर्वस्व अर्पित करती हैं। छै मास इस प्रकार परम प्रसन्नता म व्यतीत कर गर्भ धारण करती हैं। उस समय भी उन्हे परम आनन्द होता है। अद्भुत स्वप्न देखती है। वह भी उनके सत्य होते हैं। नव मास बडे ही आनन्द से व्यतीत करती हैं। गर्भ जनित पीडा तो दूर रही, उनका पेट तक भी नहीं बढता। त्रिवली भग नहीं

होती। प्रसव कब और कसे हो गया। यह भी उन्हें मालूम नही होता। ऐसी माता यद्यपि ससार में एक ही होती है, तो ऐसा पुत्र भी एक ही होता है। जैसी माता होगी वैसी ही संतान होगी।

गुरुदेव कहते हैं सैंकडा स्त्रियाँ सैंकडों ही पुत्र प्रसव करती हैं। किन्तु भगवान् सा पुत्र उत्पन्न करने वाली एक ही माता है। सर्व दिशायें तारागण प्रगट करती हैं। किन्तु महाप्रतापी सूय को तो एक पूर्व दिशा ही प्रगट करती है ॥२२॥

त्वामामनन्ति मुनय परम पुमास
मादित्यवर्णममल तमस पुरस्तात् ।
त्वामेव सम्यगुपलभ्य जयन्ति मृत्यु
नान्य शिव शिवपदस्य मुनीन्द्र पन्था ॥२३॥

अन्वयार्थ —(मुनीन्द्र) हे मुनीन्द्र (मुनय) मुनिजन (त्वाम्) तुम्हें (परम पुमास) परम पुरुष और (तमस) अन्धकार के (पुरस्तात्) आगे (आदित्य वर्णम्) सूय के स्वरूप तथा (अमल) निर्मल (आमनन्ति) मानते हैं। तथा वे मुनिजन (त्वाम एव) तुम्हें ही (सम्यक्) भले प्रकार (उपलभ्य) पा कर-के (मृत्यु) मृत्यु को (जयन्ति) जीतते हैं। इसलिये तुम्हारे अति-रिक्त (अन्य) दूसरा कोई (शिव) कल्याणकारी अथवा निरुपद्रव (शिव पदस्य) मोक्ष का (पथा न) मार्ग नहीं है ॥२३॥

श्री सोमाराम जी—

मुनि मन ध्यान धरि हैं मुनिन्द्र तुम ही को,
अहनिशि गावति यो परम पुनीत हैं।
बहुरि कहत ऐसे परम पवित्र हैं सु,
अष्टा दस दोषनि के मल तैं अतीत हैं॥

मोह अन्धकार के निनासिवे को भ्रम धरैं,
मुनिगण हृद माहि रवि तैं सुनीत हैं।
सम्यक् प्रकार तुम्हैं प्रापति है मृत्यु हरैं,
तुम बिन मोक्ष पथ और न वीनीत हैं ॥२३॥

श्री हेमराजजी –

पुरान हो पुमान हो पुनीत पुन्यवान हो,
कहैं मुनीश अन्धकार नाश को सुभान हो।
महत तोहि जान के न होय वश्य काल के,
न और मोहि मोक्ष पथ देय तोहि टाल के ॥२३॥

श्री नाथूराम प्रेमीजी –

हे मुनीश मुनिजन तुम कहैं नित परम पुरुष परमानैं।
अन्धकार नाशन के कारन निर्मल दिनकर जानैं॥
तुम पायें तैं भली भांति सों नीच मीच जय होई।
यासो तुमहि छाड़ि शिव पद पथ विघन रहित नहीं कोई ॥२३॥

श्री गिरधरजी –

योगी तुझे परम पुरुष है बताते,
आदित्य वर्ण मल हीन तमिस्र हारी।
पाके तुझे जय कर सब मौत को भी,
है और ईश्वर नहीं वर मोक्ष मार्ग ॥२३॥

श्री कमलकुमारजी –

तुमको परम पुरुष मुनि मानें,
विमल वर्ण रवि तम हारी।

तुम्हें प्राप्त कर मृत्युंजय के,
बन जाते जन अधिकारी ॥
तुम्हें छोड़ कर अन्य न कोई,
शिव पुर पथ बतलाता है।
किन्तु विपर्यय मार्ग बताकर,
भव भव में भटकाता है ॥२३॥

श्री नथमलजी —

पावन पुरुष पुरान कहत तुम मो मुनि नायक ।
तिमिर तम नाश करन तैं तुम रवि हो जग ज्ञायक ॥
तुम को उर म धार मृत्यु जीतत जग त्राता ।
तुम बिन और न कोय देव शिव मग के दाता ॥२३॥

भावार्थ—इस युग में आप जैसे पुत्र की माता होना असम्भव है। माताओं का पतन शीघ्र गति से हो रहा है। जब इस समय ही ऐसी माताओं की कथा आश्चर्य उत्पन्न करती है। तो भावी युग में तो यह केवल कल्पित कथा ही समझी जायगी। जैसे भोगभूमि की रचना में तीन कोस ऊँचा शरीर, दम्पति का जन्म, माता पिता की मृत्यु, ४९ दिन में स्वयमेव बिना लालन पालन के यौवन अवस्था कल्पवृक्षों का स्वयमेव उपभोग, रात्रि दिन का भेद न होना, सदा प्रकाश मान भूमि का रहना इत्यादि बातें इस युग में हास्यास्पद मालूम होते हैं।

प्रथम, द्वितीय और तृतीय काल में उत्पन्न होने वाले युग लिया केवल इन्द्रियों के ही भोग भोगते हैं। वे केवल सदा आनंद में ही मस्त रहते हैं। दुख, शोक, ताप क्रन्दन, ईर्षा द्वेष आदि क्या वस्तु है, वे यह नहीं जानते।

ससारी सुख के रसियाओं को शुद्ध आत्मा क दर्शन तो दूर

रहे, उसकी आभा भी नहीं पड़ती। और न उन्हें शुद्ध आत्मा के स्वरूप की श्रद्धा ही होता है। जब तक प्राणी संसार सुख की आशा से सर्वत्याग उपवास, जप, तप, व्रत, पूजा पाठ भक्ति करते रहेंगे, तब तक उनके साथ शुद्ध आत्मा किसी भी प्रकार से सम्बन्ध नहीं होता। संसार में स्वास्थ्य, शरीर, धन दौलत सम्पदा का होना, चतुर सुन्दर स्त्री, आज्ञाकारी पुत्र, घर के मकानात राज में इज्जत सवारी आदि को सुख मानते हैं, तब तक अरूपी निरंजन, निराकार सदा स्वस्थ आत्मा अनन्त विभूति, मुक्ति रूपा परम सुन्दरी, तीन लोक के सारे प्राणी आज्ञाकारी, त्रिलोकी का राज्य, उत्तमोत्तम मोक्ष स्थान जहाँ नित्य, शाश्वत्, अखण्ड सुख है। उसकी ओर लक्ष ही नहीं जाता।

तीर्थंकर, चक्रवर्ती आदि जब तक पुण्य फल का उपभोग करते हैं तब तक वे संसार में ही फंसे रहते हैं। मुक्ति रूपी लक्ष्मी तरफ लक्ष जाते ही, पुण्य और संसार का सुख उनको काटों के जैसे चुभन लगते हैं। जैसे महान, दरिद्री, रोगी, संसारिक दुखों से छटपटाते हैं। वैसे ही धन ऐश्वर्य भोगादिको महान दुखदायक मान उस दुख से छटपटा जाते हैं। और इस पुण्य का भोग, सम्पदा से अत्यन्त उदासीन हो जिसे पाप फल कहते हैं। जिसे अपना कर परम सुखी होते हैं। वे राज पाट, धन, ऐश्वर्य, स्त्री, पुत्रादिक को त्याग कर नगे, भूखे, दरिद्री का रूप धारणकर परम प्रसन्न होते हैं। दीन, दरिद्री जिन दुखों से भयभीत होकर अहो रात्रि विलाप करते हैं उन दुखों का वे बड़े ही प्रेम से आदर करते हैं। जिन बाईस परिषहों से संसारी सुख के रसिया कांप उठते हैं, वे उन्हें शुद्ध मन, वचन, काय से भोगते हुये, परम आनन्दित रहते हैं। तब कहीं उन्हें आप, अरूपी सूर्य की आभा दिखाई पड़ती है और वे इस प्रकाश से मोह अन्धकार को दूर होते देख मोक्ष का मार्ग, या आनन्द मय हो जाते हैं।

गुरुदेव कहते हैं कि पुण्य फल से परम उदासीन,

पाप, फल के भोग से निर्भय होवे, मुनि कहे जाते हैं। मुनि जन मोह रूपी अन्धकार को दूर करने के लिये आप रूपी सूर्य का श्रद्धान करते हैं। वे आपको पाकर परम प्रसन्न होते हैं। और निश्चय करते हैं कि संसार के दुखों से छूटने का, तथा कल्याण का मार्ग केवल आपका ही हृदय में ध्यान है। इसके सिवाय अनन्त संसार में सुख का कल्याणकारी मार्ग ही नहीं है ॥२३॥

त्वामव्ययं विभुमचिन्त्यमसंख्यमाद्यं
ब्रह्माणमीश्वरमनन्तमनङ्गकेतुम् ।
योगीश्वरं विदितयोगमनेकमेकं
ज्ञानस्वरूपममलं प्रवदन्ति सन्तः ॥२४॥

अन्वयार्थ — हे प्रभो (सन्त) सन्त पुरुष (त्वाम्) तुम्हें (अव्यय) अक्षय (विभु) परम ऐश्वर्य से शोभित (अचिन्त्य) चिन्तवन में नहीं आने वाले (असंख्य) असंख्य गुणों वाले (आद्य) आदि तीर्थंकर अथवा पंच परमेष्ठी में आदि अरहंत (ब्राह्मण) निवृत्तिरूप अथवा सकल कर्म रहित (ईश्वरं) सब देवों के ईश्वर अथवा कृत कृत्य (अनन्तम्) अन्तर रहित अथवा अनन्त चतुष्टय सहित (अनङ्गकेतुम्) कामदेव के नाश करने के लिये केतु रूप (योगीश्वर) ध्यानियों के प्रभु (विदित योग) यम आदि आठ प्रकार के योगों के जानने वाले (अनेक) गुण पर्याय की अपेक्षा अनेक रूप (एक) जीव द्रव्य की अपेक्षा एक अथवा अद्वितीय (ज्ञान स्वरूप) केवल ज्ञान स्वरूप चिद्रूप और (अमलं) कर्म मल रहित (प्रवदन्ति) कहते हैं ॥२४॥

श्री शोभारामजी —

वीतराग देव यो कहत तुम्हें सन्त जन,
प्रभु तुम अव्यय हो ईश्वर अपार हो।
संख्या तैं रहित हो अचिन्त परब्रह्मरूप,
एक अद्वितीय जिन आदि अवतार हो॥

जोग इश हो अनगकेतु हो कषाय चीत,
परम पुनीत हो भवोदधि के पार हो।
निर्मल स्वरूप हो अनत ज्ञान भूप हो,
सुरश वदनीक हो अनेक नय सार हो ॥२४॥

श्री हेमराजजी —
अनत नित्य चित्य की अगम्य रम्य आदि हो,
असख्य सर्व व्यापि विष्णु ब्रह्म हो अनादि हो।
महेश कामकेतु योग ईश योग ज्ञान हो,
अनेक एक ज्ञान रूप शुद्ध सत मान हो ॥२४॥

श्री नाथूराम प्रेमीजी —
कहैं सतजन तोहि निरतर अखय अनत अनूपा।
आद्य अचिन्त्य असख्य अमल विभु कमल ज्ञान स्वरूपा॥
एक अनेक ब्रह्म परमेश्वर काम केतु योगीशा।
जोग रीति को जानन वारो श्री जिनेन्द्र जगदीशा ॥२४॥

श्री गिरधरजी —
योगीश अव्यय अचिंत्य अनगकेतु,
ब्रह्मा असख्य परमेश्वर एक नाना।
ज्ञान स्वरूप विभु निर्मल योग वेत्ता,
त्यों आघसत तुझ को कहते अनत ॥२४॥

श्री कमलकुमारजी —
तुम्हें आद्य अक्षय, अनत प्रभु, एकानेक तथा जोगीश।
ब्रह्मा ईश्वर या जगदीश्वर विदित योग मुनिनाथ मुनीश॥
विमल ज्ञान मय या मकर ध्वज जगन्नाथ जग पति जगदीश॥
इत्यादिक नामों कर मानें सन्त निरन्तर विभो निधीश ॥२४॥

श्री नथमलजी —

व्यापी विष्णु अनंत नित्य ब्रह्मा सुखकारी।
ईश्वर विभू अनगकेतु जोगीश्वर भारी॥
हो अनेक फुनि एक ज्ञान रूपी जग ज्ञायक।
अविनाशी अमलान महंत तुम सो मुनि नायक॥२४॥

भावार्थ—संसारी सुख से परम उदासीन, कर्मों की सर्वथा निर्जरा के लिए आतुर प्राणी मुनि कहे जाते हैं। उन्हें ही आप रूपी सूर्य का प्रकाश दिखाई देता है और वे ही वर्त्तमान में राग पर्याय हाते संते वस्तु स्वरूप देख पाते हैं। आपके प्रकाश में उन्हें संसार एक महान वृक्ष के रूप में दिखाई देता है। उस वृक्ष में अनन्त फल दिखाई देते हैं। वे फल अपना अपना रूप प्रति समय सूक्ष्म रीति से बदलते रहते हैं। उनका सूक्ष्म रीति से स्थूल परिवर्तन दीखता है। तब सूक्ष्मता की श्रद्धा स्वयमेव हो जाती है। वे फल लाखों के प्रकार हैं। प्रथम उन्हें मुख्यतया चार प्रकार के दिखाई देते हैं। प्रथम प्रकार से सारा वृक्ष भरा पड़ा है। कुछ तो कुछ ही काल में मुर्झा कर और पुनः विकसित होते हैं। उनकी स्थिति का पता ही नहीं लगता। कुछ स्थूल ही से मालूम होते हैं। कुछ के अंकूरे होते हैं। ऐसे तीन, चार, पाँच अंकूरे वाले फल पाये जाते हैं। यह फल आपस भी टकरा टकरा कर गिर जाते हैं। दूसरे प्रकार के फल नीचे लटके रहते हैं। ये उपरोक्त फलों के अनन्तवें भाग भी नहीं हैं। ये आपस में टकराते रहते हैं। इनका अंग छिन्न भिन्न होता है। दूसरे, तीसरे प्रकार के फलों की स्थिति अधिक है। चौथे प्रकार के फल अत्यन्त अल्प है। यह बड़े ही विचित्र है। यह पहले प्रकार के फलों का उपभोग करते हैं। ऊँचे-नीचे हो तो लेने का प्रयत्न करते हैं। उन्हें छिन्न भिन्न कर देते हैं।

इस वृक्ष की जड़े पाताल तक चली गई है। प्रत्येक जड़ चारों दिशाओं में होने से वृक्ष निर्भय स्थिर है। इन जड़ों के ठीक

नीचे खाद, पानी इतना पहुँचता है कि यह सदा हरी भरी रहता है। मूढ़ प्राणी वृक्ष काटने की चेष्टा करता है। किन्तु यह ऊपरी भाग काटने से नष्ट नहीं होता। चतुर विवेकी प्राणी इसकी गहरी जड़ों को देखता है। वे प्रथम खाद पानी से चारों जड़ों का सम्बन्ध विच्छेद कर देते हैं। ऐसा करते ही वृक्ष की वृद्धि अपने आप स्थगित हो जाती है। फिर वह उसके ऊपरी भाग में जड़ों के अंकुरों को दूर करते हैं। तब वृक्ष मुरझाने लगता है। फिर उसके ऊपरी भाग के अंकुरों को दूर करते हीं वृक्ष सूखने लगता है। इसके भी ऊपरी भाग के अंकुर हटाते हैं। तब उन्हें बड़ी सावधानी की आवश्यकता हो जाती है। वृक्ष का केवल अस्तित्व ही दीखता है। यह अपने आप समय पर गिर पड़ता है। किन्तु चौथे भाग को हटाते समय उन्हें अपने को बचाये हुए डाल डाले काटने में बड़ी चतुरता और सावधानी की आवश्यकता होती है।

इस प्रकार चारों गतियों का स्वरूप और उसकी जड़ें अनन्तानुबंधी कषाय, मिथ्यात्व रूपी वृक्ष की जिसको अज्ञान और असंयम का खाद पानी सदा प्रफुल्लित रखता है। उसका विच्छेद कर अप्रत्याख्यान और प्रत्याख्यान के अंकूरे छेद और सञ्ज्वलन कषाय को छेदने के लिए आपकी सहायता की आवश्यकता होती है। तब वे आपका इस प्रकार स्मरण करते हैं।

गुरुदेव कहते हैं कि संत जन आपका अक्षय, अनंत, विभूति युक्त, अचिन्त्य, असंख्य, गुणी, आदिनाथ, ब्रह्मा, ईश्वर, अनंत, अनंगकेतु, योगीश्वर, योगी, एक अनेक रूप, ज्ञानस्वरूप, अमल आदि अनेक नामों से चिन्तवन करते हैं ॥२४॥

बुद्धस्त्वमेव विबुधार्चितबुद्धिबोधा
त्त्वं शङ्करोऽसि भुवनत्रयशङ्करत्वात् ।
धातासि धीर शिवमार्गविधेर्विधानाद
व्यक्तं त्वमेव भगवन्पुरुषोत्तमोऽसि

अन्वयार्थ —हे नाथ (विबुधार्चित बुद्धि बोधात्) देवों ने तुम्हारे बुद्धिबोध अर्थात् केवल ज्ञान की पूजा की है। इसलिये (त्वमेव) तुम ही (बुद्ध) बुद्ध देव हो (भुवन त्रय शंकर त्वात्) तीन लोक के जीवों के श अर्थात् सुख या कल्याण के करने वाले हो इसलिये (त्वं) तुम ही (शंकर असि) शंकर हो और (धीर) हे धीर (शिव मार्ग विधे) मोक्ष मार्ग की रत्नत्रय रूप विधि का (विधानात्) विधान करने के कारण तुम ही (धाता असि) विधाता हो इसी प्रकार (भगवान्) हे भगवान् (त्वमेव) तुमही (व्यक्त) प्रगट पने से पुरुषों में उत्तम होने के कारण (पुरुषोत्तम) पुरुषोत्तम या नारायण (असि) हो ॥२५॥

श्री सोमारामजी —

सकल सुरासुर के वदनीक देव तुम,
बुद्ध हो प्रत्यक्ष शुद्ध बोध के विधान तैं।
त्रिभुवन जीवनि को हित उपदेश देत,
शंकर हो देव तुम सुख प्रमान तैं॥
धाता स्वमेव हो सुधीर मोक्ष मारग के,
विधि के विधान दरसाइवे को ज्ञान हो।
उत्तम पुरुष हो महान भगवान तुम,
तो समान आन देव होत न प्रमाणतैं ॥२५॥

श्री हेमराजजी —

तुही जिनेश बुद्ध है सुबुद्धि के प्रमाणतैं,
तुही जिनेश शंकरो जगत्रय विधान तैं।
तुही विधात है सही सुमोक्ष पंथधार तैं,
नरोत्तमो तुही प्रसिद्ध अर्थ के विचारतैं ॥२५॥

श्री नाथूराम प्रेमीजी —

विबुधन पूजो बुद्धि बोध तुम यासों बुद्ध तुम्हो हो।
तीन भुवन के शकर यामो शकर शुद्ध तुम्हीं हो॥
शिव मारग के विधि विधान मो भाँखे तुम्हीं विधाता।
त्यों ही शब्द अर्थ सों तुम ही पुरषोत्तम जगत्राता॥२५॥

श्री गिरधरजी —

तू बुद्ध है विबुद्ध पूजित बुद्धिवाला,
कल्याण कर्तृवर शकर भी तुही है।
तू मोक्ष मार्ग विधि कारक है विधाता,
है व्यक्तनाथ पुरुषोत्तम भी तुही है॥२५॥

श्री कमलकुमारजी —

ज्ञान पूज्य है अमर आपका इसीलिये कहलाते बुद्ध।
भुवनत्रय के सुख संवर्द्धक अत तुम्हीं शकर हो शुद्ध॥
मोक्ष मार्ग के आद्य प्रवर्त्तक, अत विधाता कहे गणेश।
तुम सम अवनी पर पुरषोत्तम और कौन होगा अखिलेश॥२५॥

श्री नथमलजी —

विबुध पूज्य तुम बोध बुद्धि तातैं तुम स्वामी।
त्रिभुवन के कल्याण करण तैं शिव तुम नामी॥
शिव मारग उपदेश करन तैं तुम हो धाता।
पुरषोत्तम परधान प्रगट तुम ही जगत्राता॥२५॥

भावार्थ—आप रूपी सूय क प्रकाश से मृत्यु पर विजय प्राप्त होती है। मुनिगण आपका अनेकों नामो से स्मरण करते हैं वे नाम के साथ उन गुणा का मनन करते हैं। बुद्धिमान को बुद्ध कहा जाता है आप ता बुद्धि स रहित शुद्ध चेतना स्वरूप हो बुद्धि

का सम्बन्ध कमा म है। आप कर्म रहित हो देवों ने आपके केवल ज्ञान की पूजा कर बुद्ध नाम से स्तवन किया। आपके सम कालीन एक बुद्ध नाम से प्रसिद्ध सिद्धार्थ युवक थे। ससार शरीर, भोग से उदासीन हो मृत्यु पर विजय करने को घोरान्घोर तप कर शरीर को अत्यन्त क्षीण कर लिया। व एक दिन वृक्ष के नीचे गिर पड़े एक ग्वाले ने उन्हें दूध पिलाया। उससे उनके शरीर में बल का सचार हुआ। वे चिन्तवन करने लगे तप से शरीर का नष्ट करना धर्म नहीं है। शरीर का बनाये रख स्वपर उपकार करना ही श्रेष्ठ धर्म है। ऐसी दृढ़श्रद्धा से वे शरीर का पोषण कर परोपकार का उपदेश करने लगे और बुद्ध कहलाने लगे। बुद्ध आपने भिन्न हैं आपने अपना शुद्ध चेतन्य स्वरूप व्यक्त किया है। शरीर जड था उसमें ज्ञान रूप क्रिया नहीं है वह जड स्वरूप हो गया। उस शरीर से केवल स्थिति मात्र का ही सम्बन्ध है। वह करोड़ों वर्ष बिना खाये पीये क्रिया रहित वर्षों का त्यों टिका हुआ है। देव गणों ने उसे अचल शरीर में आपकी स्थिति जान पूजा की है। अत आपही बुद्ध हैं।

ससार अपनी उत्पत्ति की खोज करता है तो उसे उपस्थ और योनिका सयोग ही ससार वृद्धि की उत्पत्ति तथा स्थिति मालूम होती है। वे ज्यों अपने वश की रक्षा और वृद्धि के कारण हो उसे शकर कहते हैं मुनिगण ससार का अन्त कर निराकुल सुख की खोज में है। वह निराकुल सुख आपने प्राप्त किया है। आश्चर्य है जीव का जीवन जीवों के शरीर भक्षण से टिकता है। आप जीवन मुक्त अवस्था में करोड़ों वर्ष व्यतीत करते हैं। आपसे तो दूर रहो आप जिस शरीर में स्थित हैं उससे भी सूक्ष्मातिसूक्ष्म जीव की भी हिंसा नहीं होती सशरीर होने पर भी जीव मात्र की रक्षा होती है इस ही से आप सच्चे शकर हो।

प्रत्येक जीव क्रिया में सदा रत रहता है। क्रिया से कर्म आते हैं और भाव से बध पडता है। कर्म का फल अवश्य भोगना पडता है दुख पड़ने पर अपनी करतूत को भूल विधाता नामधारी देव की

कल्पनाकर उसे दुखदाता समझ उससे क्षमा माँगता है और सुख माँगता है। अपने ही शुभ बंध का फल शुभ कर्म का उदय आता है तो विषय भोग सामग्री प्राप्त हो जाती है तब विधाता ने सुख दिया मानता है। आपने क्रिया को सवर्था त्याग दिया। कर्म बंध होना बंद हो गया अनंत सुख प्रगट करके संसार के सामने आदर्श प्रगट किया। अत आप ही विधाता है। भरत क्षेत्र में अवसर्पिणी दस दस क्रोडा कोडी सागर के कालों का क्रम सदा से चला आ रहा है उत्सर्पिणी के ६ और अवसर्पिणी ६ उत्तम, मध्यम, जघन्य भोग भूमि का काल समाप्त हो गया। अवसर्पिणी का चौथा दुखमा सुखमा प्रारम्भ हुआ इस काल में आप ही सबसे प्रथम पुरुष हुए, जिन्होंने संसार की मान्यता और रिवाज के विपरीत आत्मा और शरीर को भिन्न कर दिखाया। अत आपही पुरुषोत्तम हो।

गुरुदेव कहते हैं कि इन्द्रादि देवो ने आपके यथार्थ स्वरूप की पूजा की है और बुद्ध कह कर स्तुति की है अत आप ही बुद्ध हो। आपसे तीन लोक के सारे प्राणियों को अभयदान मिला है अत आपही शङ्कर हो। आपही से मोक्ष मार्ग का विधान बना है, अत आपही विधाता हो। आपने ही शुद्ध निजानंद स्वरूप व्यक्त किया है। अत आपही पुरुषोत्तम हो ॥२५॥

तुभ्य नमस्त्रिभुवनार्तिहराय नाथ,
तुभ्य नम क्षितितलामलभूषणाय।
तुभ्य नमस्त्रिजगत परमेश्वराय
तुभ्य नमो जिन भवोदधिशोषणाय ॥२६॥

अन्वयार्थ—(नाथ) हे नाथ! (त्रिभुवनार्ति हराय) तीनलोक की पीड़ा को हरण करने वाले ऐसे (तुभ्यं) तुम्हें (नम) नमस्कार है। (क्षिति तलामल भूषणाय) पृथ्वीतल के एक निर्मल अलंकार रूप (तुभ्यं) तुम्हें (नम) नमस्कार हो (त्रिजगत परमेश्वराय) तीनों जगत के परमेश्वर (तुभ्य) तुम्हें (नम) नमस्कार है और (जिन) हे

जिन (भवोदधिशोषणाय) ससार समुद्र के सोखने वाले (तुभ्यं) तुम्हें (नम) नमस्कार है ॥२६॥

श्री शोभारामजी —

तुमको प्रणाम नाथ त्रिभुवन जीवनि को,
जनम मरण दुख छिन में हरति हो।
तुमको प्रणाम देव निर्मल आभूषण हो,
सारे भुवि मडल को भूषण करति हो॥
तुमको प्रनाम त्रिजगत परमेश्वर हो,
राग द्वेष मोह के विकार को हरति हो।
तुमको प्रणाम हो त्रिकाल देवनि देव,
ज्ञान के निधान भवसागर तरित हो ॥२६॥

श्री हेमराजजी —

नमों करू जिनेश तोहि आपदा निवार हो,
नमों करू सुभरि भूमि लोक के सिंगार हो।
नमों करू भवाब्धि नीर राशि शोष हेतु हो,
नमों करू महेश तोहि मोक्ष पथ देते हो ॥२६॥

श्री नाथूराम प्रेमीजी —

तीन भुवन के विपद विदारक तारन तरन नमस्ते।
वसुधा तल के निर्मल भूषण, दूषन दरन नमस्ते॥
तीन लोक के परमेश्वर जिन, विगत विकार नमस्त॥
अति गभीर जगत जलनिधि के, शोषन हार नमस्ते ॥२६॥

श्री गिरधरजी —

त्रैलोक्य आर्त्ति हर नाथ तुझे नमू मैं,
हे भूमि के विमल रत्न तुझे नमू मैं।

हे ईश सब जग के तुझ को नमूं मैं,
भव भवोदधि विनाशि तुझे नमूं मैं ॥२६॥

श्री कमलकुमारजी —

तीन लोक के दुःख हरण करने वाले हे तुम्हें नमन।
भू मंडल के निर्मल भूषण आदि जिनेश्वर तुम्हें नमन॥
हे त्रिभुवन के अखिलेश्वर हो, तुमको बारम्बार नमन।
भव सागर के शोषक पोषक भव्य जनों के तुम्हें नमन ॥२६॥

श्री नथमलजी —

नमो तोहि जिनराज लोकत्रय आरति हरता।
नमो तोहि जिनराज भुवन भूषण सुख करता॥
नमो तोहि जिनराज ईश त्रिभुवन प्यारे।
नमो तोहि जिनराज उदधि भव शोषण हारे ॥२६॥

भावार्थ —संसार के जीवों की दृष्टि में सांसारिक इन्द्रियों के अतिशय भोग संपदा ही सुख है। वे उसी सुख की आशा से और उस ही की प्राप्ति के लिये अपने मन कल्पित देवता का रूप बनाकर उसकी पूजा प्रतिष्ठा करते आ रहे हैं। उन्हें यथावत् वस्तु स्वरूप का ज्ञान नहीं है।

संसारी जीव पुद्गल पिंडों में निवास करते हैं। जैसा उन्हें शरीर पिंड, छोटा, बड़ा, टेढ़ा, मेढ़ा, आकार वाला मिलता है, उसी प्रमाण में आत्मा की आकृति बन जाती है। आत्मा उन पुद्गल पिंडों के विकारों में दुख सुख, हानि-लाभ, चिन्ता शोक, करने लगता है। उस पिंड से आत्मा का ऐसा मोह हो जाता है कि उसकी वृद्धि से अपनी वृद्धि और क्षीणता से क्षीण रोगी से रोगी, और उसके छूटने को मृत्यु समझ उसे रखने का पूर्ण प्रयत्न करता है। पिंड छूट जाने पर दूसरा पिंड धारण करता है। उसे जन्म मरन भरण पोषण करने लग जाता है। ऐसा कार्य

अनादि से करता आ रहा है। आपने इस भ्रम जाल को छिन्न भिन्न कर दिया है और त्रिलोकी के समस्त पिंडों को अलग जान कर लेश मात्र भी उनकी स्वतंत्रता में बाधा नहीं पहुँचाई और न उन पिंडों में रहने वाले प्राणियों की स्वतंत्रता ही हरण की। आपने अन्य आत्माओं को अपने आदर्श से सचेत किया। और आर्त्त हरण करने के लिये अपना यथार्थ स्वरूप दिखाया। इसलिये हम सब आप को नमस्कार करते हैं।

संसार के सारे प्राणी शरीर को आभूषणों से सुसज्जित करते हैं। किन्तु उनके सारे शरीर में आभूषण नहीं होते। उन्हें आभूषण पहनाने के लिये नाक, कान आदि छिदाने पड़ते हैं, भार सहना पड़ता है। शरीर में घट्ट पड़ जाते हैं। आभूषणों को धारण करने से भयभीत अवस्था हो जाती है। चोर डाकू उन्हें लेने के लिये नाक कान छेद देता है। हाथ पैर काट देता है। आभूषण मैले, गंदे हो जाते हैं। किन्तु आप अरूपी, महा देदीप्यमान,परम तेजोमय ऐसे आभूषण हो कि जिससे सर्वाङ्ग सुशोभित होता है। जिसमें न्यूनाधिकता नहीं राग-द्वेष नहीं, ऐसे निर्मल, पवित्र आभूषण स्वरूप हम आपको नमस्कार करते हैं।

तीन लोक आपमें समाये हुये हैं। इसलिये आप तीनों लोकों के स्वामी हैं। हम आपके अन्तर्गत हैं अतः हम आपको नमस्कार करते हैं।

भव समुद्र का आज तक किसी ने भी पार नहीं पाया और उसमें सारा संसार छटपटा रहा है। आपने अपने भवोदधि का सर्वथा शोषण कर लिया है और सारे प्राणियों को भवोदधि शोषण का मार्ग प्रगट दिखा दिया है। अतः हम सब आपको नमस्कार करते हैं।

गुरु देव कहते हैं कि त्रिलोकी के दुःख हरण करता आपको नमस्कार हो। हे तीन ... आभूषण स्वरूप आपको

हो। हे त्रिलोक नाथ आपको नमस्कार हो। हे संसार समुद्र के शोषक आपको नमस्कार हो ॥२६॥

> को विस्मयोऽत्र यदि नाम गुणैरशेषै
> स्त्वं संश्रितो निरवकाशतया मुनीश।
> दोषैरुपात्तविविधाश्रयजातगर्वैः
> स्वप्नान्तरेऽपि न कदाचिदपीक्षितोऽसि ॥२७॥

अन्वयार्थ —(मुनीश) हे मुनियों के ईश्वर (यदि) यदि (अशेषै) सम्पूर्ण (गुणै) गुणा ने (निरवकाशतया) अवकाश या जगह न रहने के कारण (त्वसंश्रित) तुम्हारा आश्रय ले लिया (अपि) तथा (उपात्त विविधाश्रयजातगर्व) प्राप्त किये हुये अनेक देवादिकों के आश्रय में जिन्हें घमंड हो रहा है। ऐसे (दोषै) दोषों ने (स्वप्नान्तरे अपि) स्वप्न प्रति स्वप्नावस्थाओं में भी (कदाचित अपि) किसी समय भी तुम्हें (न इक्षित असि) नहीं देखा तो (अत्र) इसमें (को नाम विस्मय) कौनसा आश्चर्य हुआ? कुछ नहीं ॥२७॥

श्री शोभारामजी —

> मुनि गन नाथ गुण के समूह तुमहीं में,
> आश्रित भयो है तोउ अचिरज को कहैं।
> ते गुणा अपार विद्यमान हैं सघन रूप,
> तिन अवकास यो विराजित अशोक है ॥
> रागादिक भाव सौं भयो है नाना भाँति गर्व,
> हरिहर आदि अन्य देवनि को थोक है।
> प्राप्त दोष सुपन हूँ माँझ न विलोक तातैं,
> ऐसी जिनराज परगट तिहूँ लोक है ॥२७॥

श्री हेमराजजी —

तुम जिन पूरण गुण गण भर,
दोष गर्व करि तुम परिहरें।
और देव गण आश्रय पाय,
स्वप्न न देखे तुम फिर आय ॥२७॥

श्री नाथूराम प्रेमीजी —

हेमुनीश गुन गण मिलि सिगरे, आय बसे तुम मांहीं।
हूं अति सघन रह्यो तातें अवकाश लेश हूँ नाहीं॥
यह लखि दोष वृन्द सपने हूँ में, जो नहिं तुम तन जोवें।
तो नहिं अचरज रंचु आश्रयतें, गरब सबनि को होवै ॥२७॥

श्री गिरधरजी —

आश्चर्य क्या गुण सभी तुझ में समाय,
अन्यत्र क्यों कि न मिली उनको जगाही।
देखा न नाथ मुख भी तव स्वप्न म भी,
पा आसरा जगत का सब दोष ने तो ॥०७॥

श्री कमलकुमारजी—

गुण समूह एकत्रित होकर तुझ में यदि पा चुके प्रवेश।
क्या आश्चर्य न मिल पाये हो, अन्य आश्रय उन्हें जिनेश॥
देव कहे जाने वालों से आश्रित होकर गर्वित दोष।
तेरी ओर न झाँक सके वे, स्वप्न मात्र में है गुण कोष ॥२७॥

श्री नथमलजी —

हे मुनीश अवकाश रहित गुण गण तुम मांही।
आश्रय करिकै आय रहे सो अचरज नाही॥

दोष गये करि गर्व निविध आश्रय सुपायकं ।'
सपने हूँ म फेरि लखें नहिं तुम्हें जु श्रायक ॥२७॥

भावार्थ — हे प्रभो ! हम आपको त्रिलोकाकार सुनते आ रहे हैं। आज हमको आपके दर्शनों का सौभाग्य प्राप्त हुआ है। आप और हम में कोई भी भेद दृष्टिगोचर नहीं है। आप हम जैसे ही हैं। आपका शरीर स्फटिकस्वरूप है। बिना भोजन पान किये स्वस्थ दीखता है। आपकी दिव्यध्वनि ऐसी खिरती है कि हमारे प्रश्नों का उत्तर स्वयमेव उत्पन्न हो जाता है। उससे हमें संतोष है।

कर्मों का सम्राट मिथ्यात्व है। उसके अनतानुबंधी चार मंत्री हैं। इन पाँचों ने मिल कर त्रिलोकाकार आत्मा को शरीर रूपी कोठरी में बंद कर रक्खा है। अपनी मोहनी विद्या से उसे भ्रम में डाल दिया है। जिससे वह अपनी वास्तविक शक्ति को भूल गया है। जिसकी अवधि पूरी हो जाती है, उसका मोहमद उतर जाता है और वह अपने में अनंतगुणी शक्ति का अनुभव करता है। ऐसा उसे अनुभव होते ही सम्राट और मंत्री कूँचकर जाते हैं। इन मंत्रियों के तीन भाई अप्रत्याख्यान, प्रत्याख्यान, और सज्वलन नाम के हैं। इनके परिवार में हास्यादिक नोकषय हैं। ये सब आत्मा को कोठरी में रखने का यथा शक्ति प्रयत्न करते हैं। इनकी मदद करने के लिये नौदर्शनावर्णी, पाँच ज्ञानवर्णी, पाँच अंतराय साथ रहते हैं। दर्शन मोहनी के साथ तीन निद्रा पहले ही दूर हो जाती है। बाकी सब मंत्रियों व परिवार को नष्ट होते देख सजग रहते हैं। धीरे धीरे मंत्रियों का सब परिवार नष्ट हो जाता है। तब ज्ञानावर्णी, दर्शनावर्णी और अंतराय स्वयमेव ही विलयमान होजाते हैं। आत्मा अपनी दिव्य शक्ति प्रगट होने से तीन लोक के त्रिकाल वर्ति सब पदार्थ को देखने जानने लगता है। वे अपने पास चार कर्म और देखते हैं। एक चारों ओर घेरा डाले हुये आयु कर्म है। दूसरा सुख रूप सामग्री हाजिर करने वाला वेदनी है। तीसरा शरीर की रचना बनाये नाम कर्म बैठा है। चौथा गोत्र अगुरु लघुवत्

पुद्गल में दीखता है। इन चारों को आत्मा ने तीन लोक में भ्रमण करते समय प्रसन्न होकर नियत समय के लिए भृत्य नियुक्त किये थे। आयु जाने के लिये तैयार है। लेकिन वेदनी, नाम गोत्र की स्थिति अभी बाकी है। इनको यथा स्थान स्वयमेव पहुँचाने के लिए समुद्घात हो जाता है। पहले समय में दंड, दूसरे समय में कपाट तीसरे समय में प्रतर और चौथे समय में लोकपूर्ण हो जाते हैं। तीनों वेदनी, नाम, गोत्र की वर्गणा साथ रहती है। वे भी सर्वत्र फैल जाती है। मिथ्यात्विया से दूसरुन आत्मा के अनंत गुण तीन लोक में सर्वत्र फैल हुए हैं। उन्हें बड़ा प्रसन्नता होती है। मिथ्यात्वी जीव पुन्य प्रकृतियां की उत्कृष्ट वर्गणाओं को भगवान के त्याग से स्वतंत्र देख उनका पूर्ण सत्कार करते हैं। भगवान् लोक पूर्ण से प्रतर, कपाट और दंड रूप हो शरीर प्रमाण रूप में स्थित हो जाते हैं। तीनलोक के गुण उन्हीं में व्याप्त होकर उनके साथ साथ संकुचित रूपसे उन्हीं में अपना वास करते हैं।

अतः आप पूर्ण गुणवान बन गये और दोषों को आप त्रिलोक में छोड आए। उन्हें अन्य प्राणियों ने प्रेम से धारण कर लिए वे अब आपकी ओर क्यों देखें। जिन्होंने उनको तिरस्कृत कर बाहर कर दिया है। वे तो अब, आपको स्वप्न में भी देखना नहीं चाहते। अतः आप पूर्ण गुणी, निर्दोष हो, तो कौनसा आश्चर्य है।

गुरूदेव कहते हैं कि तीनलोक के सारे प्राणी पुन्य वर्गणाओं के उपासक और आत्मगुणों की उपेक्षा करते हैं। आपने उनसे विपरीत आत्मगुणों की उपासना और पुन्य वर्गणाओं की उपेक्षा की है। आपने त्रिलोकाकार रूप कर आत्मगुणों को अपना लिया और पुन्य वर्गणाओं को छोड दिया। जिनके समस्त प्राणी उपासक थे। वे पुन्य वर्गणा अब आपको स्वप्न में भी नहीं देखती और आत्म गुणों से आप परिपूर्ण हो गये तो क्या आश्चर्य है ॥२७॥

उच्चैरशोकतरुसंश्रितमुन्मयूख
माभाति रूपममलं भवतो नितान्तम् ।
स्पष्टोल्लसत्किरणमस्ततमोवितानं
बिम्बं रवेरिव पयोधरपार्श्ववर्ति ॥२८॥

अन्वयार्थ — उच्चैः) ऊँचे (अशोक तरु संश्रितम्) अशोक वृक्ष के आश्रय में स्थिर और (उन्मयूख) ऊपर की ओर निकलती है किरण जिसकी ऐसा (भवत) आपका (नितांतं) अत्यन्त (अमल) निर्मल (रूप) रूप (स्पष्टोल्लसत किरणम्) व्यक्त रूप ऊपर को फैली है किरणें जिसकी ऐसे तथा (अस्त तमो वितान) नष्ट किया है- अन्धकार जिसने ऐसे (पयोधर पार्श्ववर्ति) बादलों के पास रहने वाले (रवैं) सूर्य के (बिम्बं इव) बिम्ब के समान (आभाति) शोभित होता है ॥२८॥

श्री शोभाराम जी —

जिन भगवान तुव सुन्दर मुखारविन्द,
सोभित अधिक रूप कान्ति परगट है ।
उन्नत अशोक तरु ताको उपकंठ पाय,
निर्मल प्रकाश होत दीपति अघट है ॥
जैसे रवि मंडल अखंड रूप ज्योतिवत,
अन्धकार नासिवे को तेज पुंज पट है ।
तोउ जलधर के निवास के निकट पाय,
सोभा अधिकाय होत किरनी अमिट है ॥२८॥

श्री हेमराजजी —

तरु अशोक तल किरन उदार,
तुम तन शोभित है अविकार ।

मेघ निकट ज्यों तेज फुरत,
दिनकर दिपै तिमिर निहनत ॥२८॥

श्री नाथूराम प्रेमीजी —
हे जिनवर अशोक तल तेरो, विमल रूप मन मोहै।
किरन निकर वितरन सो चहुँधा अस उपमा युत सोहै ॥
जैसे जलधर के समीप सोहत बहु किरन स्वरूपा।
तेजमान तम तोम हरन पर, दिनकर बिंब अनूपा ॥२८॥

श्री गिरधरजी —
नीचे अशोक तरु के तन है सुहाता,
तेरा विभो विमल रूप प्रकाश कर्त्ता।
फैली हुई किरण का तम का विनाशी,
मानों समीप घन के रवि बिंब ही है ॥२८॥

श्री कमलकुमार जी —
उन्नत तरु अशोक के आश्रित,
निर्मल किरणोन्नत वाला।
रूप आपका दिपता सुन्दर,
तम हर मन हर छवि वाला ॥
वितरण किरण निकर तमहारक,
दिनकर घन के अधिक समीप।
निलाचल पर्वत पर होकर,
निराजन करता ले दीप ॥२८॥

श्री नथमलजी —
उन्नत वृक्ष अशोक तलै तुम रूप विराजत।
विमल किरण करि सहित निरन्तर सोभा छाजत ॥

तेजवत स्फुराय मान तम नाश करन्तो ।
मेघ निकट निमि भान बिम्ब सोभा जुधरन्तो ॥२८॥

भावार्थ —हे प्रभो ! आप पूर्ण गुण सम्पन्न और पूर्ण निर्दोष हो। इसमें कोइ आश्चर्य नहीं है। आश्चर्य इस बात का अवश्य है कि जिस शरीर को हाड़, मास, मज्जा से बना विष्टा का भाँड़ा कहते हैं। वह कैसे शुद्ध हो गया। उसके यह सब कहाँ विलय गये। यह कैसे अप्रतिघात हो गया है।

शरीर और आत्मा दोनों भिन्न वस्तुयें हैं। तब भी जिनका अनादि काल से सम्बन्ध है। उसकी उपेक्षा करने से कार्य सिद्धि नहीं होती। गृहस्थ और मुनिधर्म का पालन अशुद्ध जीव (बहिरात्मा) अस्वस्थ शरीर से नहीं होता। दोनों को ही शुद्ध और स्वस्थ बनाये रखने से ही कार्य सिद्धि होती है। सो भी केवल मनुष्य पर्याय ही से और उसमें भी यदि सूक्ष्मता से देखा जाय तो पहले शरीर की स्वस्थता और पीछे आत्मा की स्वस्थता होती है। इसलिये ऋषियों ने कहा है कि (शरीर माद्यं खलुधर्मसाधन)—

कर्म भूमि की आदि में भगवान ऋषभदेव ने जन्म लिया। और उन्होंने ही मनुष्यों के जीवन रक्षन के लिये असि, मसि, कृषि वाणिज्य आदि काम बताये। संसार की नवीन रचना का प्रारम्भ किया। इसीलिये आदिनाथ कहते हैं।

सूक्ष्म सेना हर जीवों की प्राथमिक अवस्था में पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, वनस्पति आदि के रूप से होती है। त्रस काय का अस्तित्व इनकी सजीव व त्यक्त शरीर ही से रहता है। मनुष्य इन सबों का उपयोग करता है। पृथ्वी पर बसता है। जल से प्यास हवा से स्वासोच्छ्वास, अग्नि से शीत दूर तथा भोजन परिपक्व करता है और वनस्पति तो उसकी खाद्य वस्तु है।

भोग भूमि के साथ साथ कल्प वृक्ष विलय हो गये। क्रम से फल देने वाले आम, नीबू, जामुन धान्यादि स्वयमेव उत्पन्न हो गये। भगवान ने फल के वृक्षों से फल और धान्य से चावल भिन्न कर

खाने की क्रिया बताई। वृक्षों के डाल डाले काट छाट सुखा कर जला कर पकाने का मार्ग बताया। जीवन के लिये हिंसा अनिवार्य हो गई। हिंसा की क्रिया में भाव अहिंसक रखने के लिये भव्यजनों को जल छानन और वनस्पतिया के त्यक्त शरीर फलादि से जीवन रखने का मार्ग गृहस्थ धर्म का मार्ग आदर्श प्रगट किया।

हे भगवान ! आत्मा को शरीर से सर्वथा भिन्न करने के लिये आपने मुनिधर्म धारण किया। वदृतसे मत देखा देखी मुनि बन गये। अत एव भगवान एक स्थान पर विराजे। किन्तु औरों से भूख प्यास की वेदना न सही गई। वे वृक्षों के फूल फलों का बुरी तरह उपभोग करने लगे। आपने योग छोड विचारना आरम्भ किया। आप जिस वृक्ष की छाया में जाते, वह ही मानो भयभीत हो हवा से झुक झुक कर आपको प्रणाम करता है और अपने फल फूल गिरा कर चले जाने की प्रतीक्षा करता। आपने वृक्षों की ऐसी अवस्था देख खाने को ही सर्वथा त्याग कर उन्हें इस बात का पूर्ण विश्वास कराने को, उनकी शरण में जडवत् स्थिर हो गया है। तब उनका शोक सर्वथा हो गया।

गुरुदेव कहते हैं कि आपका तेजोमय दिव्य शरीर अशोक वृक्ष के नीचे है। उससे आपका प्रकाश पत्तों की डालियों से निकल कर ऐसा मालूम होता है कि मानों जल भरे चित्र विचित्र प्रकार के बादलों के मध्य से सूर्य का प्रकाश हो रहा है ॥२८॥

सिंहासने मणिमयूखशिखाविचित्रे
विभ्राजते तव वपु कनकावदातम्।
बिम्बं वियद्विलसदंशुलतावितानं
तुङ्गोदयाद्रिशिरसीव सहस्ररश्मेः ॥२९॥

अन्वयार्थ —हे भगवान (मणि मयूख शिखा विचित्रे) मणियों की किरण पंक्ति से चित्र विचित्र (सिंहासने) सिंहासन पर (तव) तुम्हारा (कनकाव दात) स्वर्ण के समान मनोज्ञ (वपु)

शरीर (तु गोदयाद्रिशिरसी) ऊँचे उदया चल के शिखर पर (वियद्विलस दंशुलता वितानं) आकाश में शोभित हो रहा है किरण रूपी लताओं का चँदोवा जिसका ऐसे (सहस्र रश्म' विम्ब त्त्र) सूर्य के बिम्ब की तरह (विभ्राजते) अतिशय शोभित है ।।२६।।

श्री शोभारामजी —

मणि की किरनी सों प्रताप तेज पुञ्ज धरै,
सिंहासन सोभा कछु वरणी न जाति है।
जामैं कोटि छवि सो निराजमान जिननाथ,
कंचन वरन तन दीपति निभाति है।।
जैसे रवि मंडल प्रकाश वत उदै होत,
महस किरनि जैसे तिमिर विलात है।
उन्नत उदय गिरि सिखर प्रगट ज्योति,
जग मग जग मग होत न न समाति है ।।२९।।

श्री हेमराजजी —

सिंहासन मणि किरण विचित्र,
तापर कंचन वरण पवित्र।
तुम तन शोभित किरण विथार,
ज्यों उदया चल रवि तम हार ।।२९।।

श्री नाथूराम प्रेमीजी —

मनि किरनन सो चित्रित द्युति युत, सिंहासन मन भावै।
तापै जिन तुव कनक वरन तन, ऐसी उपमा पावै।।
ता वितान गगन में अपनी किरनन को सुख दाई।
ऊँच उदयाचल के ऊपर दिनकर देत दिखाई ।।२९।।

श्री गिरधरजी —

सिंहासन स्फटिक रत्न जड़ा उसी में,
माता दिपै कनक कान्त शरीर तेरा।
जो रत्न पूर्ण उदयाचल शीश पै जा,
फैला स्वकीय किरणें रवि बिंब सोहै ॥२९॥

श्री कमलकुमार जी —

मणि मुक्ता किरणों से चित्रित,
अद्‌भुत शोभित सिंहासन।
कान्तिमान कंचन सा दिखता,
जिस पर तव कमनीय वदन ॥
उदयाचल के तुङ्ग शिखर से,
मानों सहस्र रश्मि वाला।
किरण जाल फैला कर निकला,
हो करने को उजियाला ॥२९॥

श्री नथमलजी —

सिंहासन द्युति वन्त रतन मय ऊपर सोहैं।
कंचन वरण शरीर तिहारो जगमन मोहैं ॥
ज्यों उतग उदयाचल पै दिनकर द्युति धारैं।
किरननि जुत छविवत जगत तम को गुनिवारैं ॥२९॥

भावार्थ —वृक्ष के नीचे एक तेजोमय, देदीप्यमान सूर्य के उदय से जगत में मगल हो गये। इस प्रभा की किरणें तीनलोक में फैल गईं। स्वर्गवासी, भवनवासी, व्यन्तर, और ज्योतिषीदेव जय जयकार के नारे लगाते हुये पृथ्वी पर आने लगे। मनुष्य, तिर्यंच उनके नारों से ... हो, वे भी ध्वनि की तरफ चल दिये।

पृथ्वी माता ने हर्षोन्मत्त हो जंगल की अद्भुत् सजावट आरम्भ की। उसकी देवगण सहायता करने लगे। कोसों में ज़मीन की सफाई कर समतल भूमि बनाई गई। छहों ऋतुओं के फल फूलों की वृक्ष से सुन्दर स्थान चारों ओर सजाया गया। भगवान को मध्य में रख उनके पास एक ऊँचा विशाल चबूतरे के चारों दिशा में तीन तीन मार्ग नियत कर बाहर स्थान नियुक्त किये गये। चार प्रकार के देव उनकी देवियों के लिये, भिन्न, भिन्न ऐसे आठ स्थान, साधू महात्माओं के लिये एक, एक मनुष्यों के लिये, एक स्त्रियों के और एक पशुओं के लिये नियत कर दिये गये। चारों ओर कोट खाई, सरोवर आदि बना कर तीन लोक में उत्तमोत्तम पदार्थ थे, उनसे सजाया गया।

पृथ्वी माता ने अपनी सम्पूर्ण शक्ति लगा कर स्थान को परम सुन्दर बना लिया। उसके उदर से अनन्त सन्तानें हुई। वह सबका लालन पालन करती है, वह उस पर मल-मूत्र खखार सड़े गले फल फूल, पत्ते आदि डालते हैं। उनको भक्षण कर सुन्दर फल फूल धान्यादि देती रहती है। वह इसके शरीर में गहरे गहरे घाव बना इसका रक्त चूँसते रहते हैं। वह कभी क्रोध नहीं करती। उसके पुत्र आपस में झगड़ते, मरते-मारते हैं। वह किसी का पक्ष नहीं करती। किसी को बुरा भला नहीं कहती। वह मूक रूप से सबको अपने आदर्श चरित्र से शिक्षा देती रहती है। किन्तु कोई नहीं समझता। आज उसके उदर में भारतवर्ष में १८ कोड़ा कोड़ी सागर के पश्चात् यह पहला ही पुत्र है। जिसने उसकी शिक्षा अक्षरशः पालन की है।

पृथ्वी माता ऐसे अनुपम पुत्र को पाकर परम प्रसनता से फूली हुई हर्षोन्मत्त हो रही है। वह उन्हें अपने अंक में रखना चाहती है। किन्तु वे तो शुद्ध, अरूपी हो गये। शरीर भी शुद्ध अणुओं का पिंड बन गया। और गोद से उछल आकाश में अधर स्थिर हो गये। माता उनके अत्यन्त उच्च भावों को समझ गई। तब भी प्रेम वश वर्षा के रूप में आनंदाश्रु बहा दिये। उसने अपने गुप्त भंडार से

जैसे ही समेर तट उन्नत सपत शृंग,
चन्द्र उदै होत सोभा को सिगार है।
गिरै अति निर्मल सुउज्वल सुनारिधारि,
झरत झरनि मानों अमृत की धार है ॥३०॥

श्री हेमराजजी —

कुंद पहुत सित चमर दुरत, कनक वरन तुम तन शोभत।
ज्यों सुमेर तट निर्मल कान्त, झरना झरै नीर उमगात ॥३०॥

श्री नाथूराम प्रेमीजी —

कनक वरन तन सुतनु जासु पर कुंद सुमन द्युति धारी।
चारु चमर चहुँ ढुरत विशद अति सोहत योमन हारी।
सुर गिरि के कचन मय ऊँचे तट पर ज्यों लहरानैं।
झरनन की उज्वल जल धारा, उदित इंदु सी भावैं ॥३०॥

श्री गिरधरजी —

तेरा स्वर्ण मम दह निभो सुहाता,
है श्वेत कुंद सम चामर के उडे से।
मोहे सुमेरु गिरी कांचन कान्तिधारी,
ज्यों चद्र कातिधर निर्झर के बहे से ॥३०॥

श्री कमलकुमारजी —

ढुरते सुन्दर चँवर निमल अति, नवल कुंद के पुष्प समान।
शोभा पाती देह आपकी रौप्य धवल सी आभावान॥
कनका चल के तुङ्ग शृंग से झर झर झरता है निर्झर।
चन्द्र प्रभा सम उछल रही हो मानों उसके ही तट पर ॥३०।

श्री नथमलजी —

कुन्द कुसुम सम धवल चँवर चौंसठ सुर ढारत।
कंचन वरण शरीर तिहारो अति छवि धारत॥
ज्यों सुमेरु तट निर्झर भरत भरना उमगते।
चन्द्र किरण सम अमल सोभ अति ही जु धरते॥२०॥

भावार्थ —भगवान माता की गोद में रखने के कष्ट से मुक्त कर आप अधर हो गये। माता ने अनुपम सिंहासन बना कर उनके नीचे बिछा दिया। उस पर भी वे नहीं विराजे और अधर आकाश में ही स्थिर रहे। मोह वश माता को कष्ट हुआ। किन्तु वह समझ गई कि अरूपी आत्मा अरूपी आकाश में विलीन हो रहा है। किन्तु पुद्गल पिंड तो रूपी जड़ है, स्थूल है सदा से मेरे आश्रित है। यह कैसे अधर हो रहा है। तब उसने और गहरा विचार किया तो, उसकी समझ में आगया कि मोह जो अपनी सचिक्कणता से इन अणुओं के पिंड को दृढ़ बना रक्खा था, वह सचिक्कणता सर्वथा नष्ट हो गई। यह तो बालू पिंड सदृश केवल आकृति मात्र है। यह प्रत्येक अणु भिन्न हैं। इसी से यह अप्रतिघात है। तब ही अधर हो गये हैं और यह कितने सूक्ष्म बन गये कि स्थूल और सूक्ष्म अणु बिना टकराये ही पार हो जाते हैं।

पृथ्वी माता यह सब जान गई, किन्तु मोह वश भ्रम में पड़ गई। उसने जय जय कार के नारे लगाते हुये, सब ही दर्शक प्राणियों को आदेश दिया कि भगवान ने अपने से सम्बन्ध तोड़ दिया है। और यह अरूपी आकाश में विलीन हो रहे हैं। यह पुद्गल पिंड भी छिन्न भिन्न हो गया। यह क्यों एकाकी रहते हैं। हम सब लोग इनकी सेवा भक्ति कर रहे हैं। ये हमारे न रहें। अन आप प्रतिनिधि मंडल द्वारा इन्हें यहीं रहने की प्रार्थना करें।

समवशरण ... प्राप्त होने के स्थानों में सब ही प्रकार के प्राणी ... के इन्द्र, प्रत्येन्द्र, बारह २ चौबीस

घातियों के ४०, व्यन्तरों के ३२ ज्योतिषियों के २, मनुष्यों में चक्रवर्ति और पशुओं में सिंह ऐसे १०० प्रतिनिधियों रूप में आगे बढ़कर भगवान के निकट उतरे पर गये। प्रतिनिधि गण परम, सुन्दर, स्वच्छ चमरों को ऊँचे नीचे ढारते हुये आगे बढ़ने लगे। किन्तु वे शरीर तक पहुँचना तो दूर रहा, सिंहासन का भी स्पर्श न कर सके। उनकी भगवान के अनुपम तन से जबान तक रुक गई वे कुछ न बोल सके। वे चमर ढारते हुये टक टकी लगाकर भगवान के रूप का अमृत पान करने लगे। और सारे लोक उनकी इस क्रिया को बड़े गौर से देखने लगे। उन्होंने चमर नीचे ऊँचे करते यही प्रतीत कर लिया कि जो भगवान को शुद्ध, स्वच्छ मन से नमन करते हैं। उनकी उर्द्ध गति होती है।

गुरूदेव कहते हैं कि कुन्द के वृक्ष से झड़ते हुये फूलों के समान सुन्दर, स्वच्छ चमर भगवान पर ढारते हुये ऐसा मालूम होता है कि सुमेरु पर्वत के उभरे हुये भाग के दोनों ओर चन्द्रमा की कान्ति के समान स्वच्छ निर्मल झरणें ही हैं ॥३०॥

छत्रत्रय तव विभाति शशाङ्ककान्त
मुच्चैः स्थितं स्थगितभानुकरप्रतापम्।
मुक्ताफलप्रकरजालविवृद्धशोभं
प्रख्यापयत्त्रिजगतः परमेश्वरत्वम् ॥३१॥

अन्वयार्थ—हे नाथ (शशाङ्क कान्तम्) चन्द्रमा के समान रमणीय (उच्चैः स्थितं) ऊपर ठहरे हुये, तथा (स्थगितभानुकर प्रतापम्) निवारण किया है सूर्य की किरणों का प्रताप जिन्होंने और (मुक्ताफल प्रकरजाल विवृद्ध शोभम्) मोतियों के समूह की रचना से बढ़ी हुई है शोभा जिनकी ऐसे (तव) आपके (छत्रत्रयं) तीन छत्र (त्रिजगत) तीन जगत का (परमेश्वरत्वम्) परम ईश्वर पना (प्रख्यापयत्) प्रगट करते हुए (विभाति) शोभित होते हैं ॥३१॥

श्री शोभारामजी —

उदित रहत छत्र तीन यों विराजमान,
उपमा अनेक दग दखे उमगति हैं।
उज्ज्वल प्रकाश चन्द्र मंडल तैं अति ज्योति,
सरसी न होत कहिवे का तुच्छ मति हैं॥
जिनकी प्रभा तें रवि किरन स्कति अति,
मोतिन की माल जाल उज्जल दिपति हैं।
प्रभुता प्रगट परकासत यो भासत हैं,
देव अरहंत जिन त्रिभुवन पति हैं॥३१॥

श्री हेमराजजी —

ऊँचे रहे सूर दुति लोप, तीन छत्र तुम दिपें अगोप।
तीन लोक की प्रभुता कहैं, मोती झालर मों छवि लहैं॥३१॥

श्री नाथूराम प्रेमीजी —

शशि समान रमनीय प्रखर रवि ताप निवारन हारो।
मुकतन की मंजुल रचना सो अतिशय शोभा धारो॥
तीन छत्र ऊंचे तुव सिर पर ह जितवर मन मारें।
तीन जगत का परमेश्वरता वे मानो प्रगटावें॥३१॥

श्री गिरधरजी —

मोती मनोहर लगे जिनमें सुहाते,
नीके हिमांशु सम सूरज ताप हारी।
हैं तीन छत्र सिर पैं अति रम्य तेरे,
जो तीन लोक परमेश्वरता

श्री कमलकुमारजी —

चन्द्र प्रभा मम झल्लरियों से,
मणि मुक्ता मय अति कमनीय।
दीप्तिमान शोभित होते हैं,
सिर पर छत्र त्रय भवदीय॥
ऊपर रह कर सूर्य रश्मि का,
रोक रहे हैं प्रखर प्रताप।
मानों वे घोषित करते हैं,
त्रिभुवन के परमेश्वर आप ॥३१॥

श्री नथमलजी —

उज्वल चन्द्र समान छत्र तुम पर सो हैं।
ऊँचे रहते सदीव भानु धुति लोप तजे हैं॥
मुकता फल की लसत झालरी अति छविधारी।
तीन लोक की प्रगट करत प्रभुता सुखकारी ॥३१॥

भावार्थ—लोक के प्रतिनिधि इन्द्रादिक देव भगवान के सिंहासन को नहीं पा सके और उनके मुँह से एक शब्द भी नहीं निकला। तब पृथ्वी माता विचार करती है कि अरूपी आकाश सर्वत्र व्यापक है। धम अधर्म द्रव्य एक एक अखड अनतकाल से जैसे के तैसे बने हुए हैं, और बन रहेंगे। विश्व में अनंत बार प्रलय हुये, जल प्राप्त हुये, भैंगज हुय, और होते रहेंगे। किन्तु अरूपी पदार्थ पर इनका कोई असर नहीं होता है। सत् स्वरूप में बदलाव नहीं होता है। वैसे ही जब आत्मा अपने स्वभाव में स्थिर हो गई है, तो वैभाविक प्राणी स्वाधीन प्राणी के आगे क्या बोल सकता है। यह कम वगणायें अपने मद म सदा मस्त रहती हैं। जड होकर भी चेतन को नचाती है। आज इस स्वाधीन

आत्मा के सामने निमद होकर दीन, हीन, भिखारी के रूप में शुद्ध आत्मा का मुंह ताक रही है।

पृथ्वी माता ने कौतुकवश कर्म, नोकर्म, भावकर्म से पूछा कि कैसे उदास हो रहे हो। किस रंज में हो ? क्या विचार करते हो ? तुम्हारी दशा ऐसी कैसे हो गई है ?

कर्म वर्गणाओं ने कहा कि जिस प्राणी को हम अनंत काल से बराबर सहायता करते आ रहे हैं। उसी ने आज हमें घी में से मक्खी के जैसे निकाल बाहर फेंक दिया। पृथ्वी माता ने पूछा कि तुमने इनकी क्या सहायता की और तुम्हें क्यों निकाल दिया ?

कर्म वर्गणाओं ने कहा यह जीव निगोद राशि में अनंत काल से पडा हुआ था। हमने इसको पूरी पूरी मदद कर वहाँ से निकाला। तीन लोक में सर्वत्र हम घुमाया। सारी पर्यायों के, अनुभव, रस पान कराये। देव पर्याय के दिव्य भोग भोगने का अवसर दिया। मनुष्य पर्याय हम ही ने अनंतों बार दिलाई है। आज यह हमारे सारे उपकारों को सर्वथा भूल गया है। इसी से हम उदास हैं। अब हम यह विचार कर रही हैं कि किस तरह से इस आत्मा को फिर से पकड़े। हमने सारे प्रयत्न कर लिये हैं। यह पाषाणवत् निश्चल हो गई है। मोहराजा रण संग्राम में अकेला इससे जूझता रहा। किसी ने उसका साथ नहीं दिया। ज्ञानावर्णी, दर्शनावर्णी और अंतराय जब तक साथ देते रहे, तब तक आत्मा कुछ न कर सकी। किन्तु आपस में फूट तथा असहायता से मोह राज का सर्वथा नाश हो गया। मोह को जाते देख हम तीनों को भी आत्मा ने क्षण भर में भगा दिया।

"बीती ताहि बिसारिए, आगे की सुधि लेय" इस नीति के अनुसार हमने यह विचार किया है, कि जब आत्मा शरीर को छोड़ ऊर्द्ध गति जाय, हम तीनों एक साथ उनके लिपट जाँय। यह शरीर न छोड़े तब तक इनके मस्तक पर रास्ता रोक कर खड़े हुये हैं।

नो कर्म न छत्र का रूप बनाया, द्रव्य कर्मो ने मोती का और भाव कर्म ने मोती की झालर मय रचना की है। तीनों एकत्र हो, तीन छत्र का रूप बनकर मस्तक पर आ डटे। जनता को मूक रूप से समझा दिया कि हमने जन्म जन्मान्तर से सेवा की है। अब यह ऐसे स्थान में जा रहे हैं कि जहाँ से वापिस न आवेंगे। अत शीत उष्णता, ताप, वर्षा से बचाने के लिये हमने तीन छत्र का रूप धारण किया है।

गुरूदेव कहते हैं कि चन्द्रमा की कान्ति के समान स्वच्छ निर्मल सूर्य के ताप को दूर करने वाले मोतियों की झालर से वेष्टित तीन छत्र तीन जगत के इश्वर पने को दिखाते हुये अत्यंत शोभा दे रहे हैं ॥३१॥

> गंभीरताररवपूरितदिग्विभाग
> स्त्रैलोक्यलोकशुभसंगमभूतिदक्ष ।
> सद्धर्मराजजयघोषणघोषक सन्
> खे दुन्दुभिर्ध्वनति ते यशस प्रवादी ॥३२॥

अन्वयार्थ —हे जिनेन्द्र ! (गंभीर तार रवपूरित दिग्विभाग) गंभीर तथा ऊँचे शब्दों से दिशाओं को पूरित करने वाला (त्रैलोक्य लोक शुभ संगम भूति दक्ष) तीन लोक के लोगों को शुभ समागम की विभूति देने में चतुर ऐसा और (ते) आपके (यशस) यश का (प्रवादी) कहने वाला, प्रगट करने वाला (दुन्दुभि) दुन्दुभि (खे) आकाश में (सद्धर्म राज जय घोषण घोषक सन्) सद्धर्मराज की अर्थात् तीर्थंकर देव की जय घोषणा को प्रगट करता हुआ (ध्वनति) गमन करता है ॥३२॥

श्री शोभारामजी —

> मधुर मधुर ध्वनि उन्नत गंभीर रव,
> बाजत त्रिविध भांति दुंदुभी अपार हैं।

सुर नर नाग तिहूँ लोक के सदग शुभ,
सगम करन म प्रवीण गुण सार हैं ॥
धरम के राज जिनराज की सबद घोष,
करत सुघोष जत दिव्य निमतार हैं।
गगन सुमडल अगड रूप सदा काल,
नाथ ये तुम्हारे जश करत उच्चार हैं ॥३२॥

श्री हेमराजजी —
दुदुभि शब्द गहर गभीर, चहु दिशि होय तुम्हारे धीर।
त्रिभुवन जन शिव सगम करे, मानू जय जय रव उच्चरे ॥३२॥

श्री नाथूराम प्रेमीजी —
रुचिर गभीर उच्च शब्दनि सो, दस दिशि पूरन वारो।
त्रिभुवन जन कहँ शुभ सगम को, सम्पति वितरन वारो ॥
गगन माहि पुनि तुव जस को जो, महिमा गावत छाजै ॥
सो दुदुभि जिनराज विजय की करत घोषणा बाजै ॥३२॥

श्री गिरधरजी —
गभीर नाद भरता दस हो दिशा मे,
सत्सग की त्रिजग को महिमा बताता।
धर्मेश की कर रहा जय घोषणा है,
आकाश बीच बजता यश का नगारा ॥३२॥

श्रीकमलकुमारजी —
ऊँचे स्वर से करने वाली, सर्व दिशाओं में गुजन।
करने वाली तीन लोक के, जन जन का शुभ सम्मेलन।
पीट रही है डका हो सत् धर्म राज की ही जय जय।
इस प्रकार बज रही गगन म भेरी तव यश की अक्षय ॥३२॥

श्री नथमलजी —

बाजत अति गंभीर दुन्दभी गगन मझारा।
ध्वनि करि पूरित कियो दिशिन को भाग अपारा॥
शुभ सगम त्रय लोक करन में परम प्रवीने।
किधौं करत जय शब्द, तुम्हारे गुण करि भीने॥३२॥

भावार्थ - पृथ्वी माता ने मोह सम्राट की पराजय कर्मों के द्वारा सुनी। वह जानती थी कि आत्मा की अनंत शक्ति को कुचलने की सामर्थ्य किसी में भी नहीं है। त्रिलोकाकार अरूपी आत्मा ने सारे पुद्गल द्रव्य को ही अपने पेट में रख लिया है। एक अणु भी बाहर नहीं छोड़ा है। उनकी सारी वर्त्तमान करतूत ही नहीं, भूत, भविष्यत् तक उनसे छिपी नहीं है। उनको (पुद्गलों) यह भ्रम है कि यह छोटा सा शरीर है और हम तीन लोक में सर्वत्र फैल हुए हैं। यह हमारे कारागृह से बाहर नहीं निकल सकता। तीन लोक के सारे प्राणी हमारे अधिकार में अनादि काल से रहते आये हैं। यह भ्रम भी कुछ समय पश्चात् अपने आप दूर हो जायगा। वह मोहराज से स्वयं मिली। मोह राजा ने पृथ्वी माता का स्वागत किया और कहा कि मैं आपकी सहानुभूति का कृतज्ञ हूँ। मेरी अवज्ञा का दंड, मैं 'ऋषभदेव' को अवश्य दूंगा। जिससे साम्राज्य में शिष्टाचार बना रहे।

मोहराजा ने कहा कि मेरे यहाँ तो ऐसा नियम है कि मेरे साम्राज्य में रहने वाले प्राणी तीन लोक में जी चाहे जहाँ जा सकता है। मैं उनको इच्छानुसार योग्य वाहन देता हूँ। मेरे आनुपूर्वी नाम के नौकर यही कार्य करते हैं। मेरे भृत्य उनके लिये स्थान (शरीर) बनाते हैं। इन्द्रियाँ सदा उनके कार्य करने के लिये नियुक्त हैं। वे बड़े आनन्द से भोगोपभोग कर सकते हैं। व उस घर को तोड़ फोड़ खराब करते हैं। मैं उनको कुछ नहीं कहता और मैं उनकी मर्जी के माफिक दूसरे स्थान में भेज, वहाँ सारा प्रबन्ध कर देता हूँ। मैं धन,

दौलत, ऐश्वर्य, स्त्री, पुत्र, परिवार जैसा वह चाहे वैसा ही देता हूँ। पृथ्वी माता ने कहा कि मैं तो किसी ही प्राणी को सुखी नहा दखती। सभी को दिन-रात तड फडाते, चिन्तित सदा चाह की दाह में सिलगते देखती हूँ। मोहराजा ने कहा हे माता! मैं आपका शपथ पूर्वक कहता हूँ कि मरे द्वारा उनको इच्छित पदार्थ ही न्यिे जाते हैं। वे उसे भूलते रहते हैं। वे दूसरा के चित्र विचित्र पदार्थ देख अपने इच्छित प्राप्य पदार्थों से घृणाकर तिरष्कृत होते हैं। यह उनकी भूल है।

पृथ्वी माता ने कहा कि ऋषभदेव ने ता आपके सारे पदार्थ छाड न्यिे। फिर वे यहाँ कैसे रह रहे हैं। मोह राजा ने कहा कि हमारे भृत्य उन्हें समझाने की चेष्टा कर रहे हैं। उनके निकट तीन लोक के उत्तमोत्तम पदार्थ रख दिये हैं, उनके आगे परम सुन्दर असरय देवागनाएँ नृत्य करती हैं। वे नहा देखते तो कुछ समय प्रतीक्षा के पश्चात कर्म नोकर्म सारी विभूति छीनली जायगी, और उन्हें अडमन द्वीप के समान एक छाटे से टापू में भेज दिया जायेगा। वहाँ उनको स्थिर विराजमान कर दिये जायेंगे। तीनलोक के भाग उपभाग करते सब प्राणियों को दखते रहेंगे। उन्हे शरीर इन्द्रियाँ आदि नहा मिलेंगी। और न भाग सकेंगे। उनके न रूप होगा, निहग सदा शाश्वत बने रहगे। मैं उसकी घोषणा गधर्वों द्वारा करा रहा हूँ। वे सुन्दर-वादित्र बजा बजा कर मेरा आदेश सुनाते रहेंगे। फिर भी कोई भ्रम स दूसरी बात समझ अवज्ञा करेगा ता उसको भी यही सजा दी जायगी।

गुरुदेव कहते हैं कि अत्यन्त विशाल मधुर सुरीली ध्वनि के द्वारा व्यजना शक्ति में करोडा प्रकार के वाद्य यन्त्र ससार को यह सूचना दे रहे हैं कि सत्य धर्म की विजय और मोहराज की पराजय हो गई है। आत्मा में अनत शक्ति और अनत सुख है। उन जिनेन्द्र भगवान् ने व्यक्त कर दिखाये हैं। यही यथार्थ स्वरूप सब आत्माओं का है ॥३२॥

मन्दारसुन्दरनमेरुसुपारिजात
सन्तानकादिकुसुमोत्करवृष्टिरुद्धा ।
गन्धोदबिन्दुशुभमन्दमरुत्प्रपाता
दिव्या दिवः पतति ते वचसा ततिर्वा ॥३३॥

अन्वयार्थ—हे नाथ (गन्धोद बिन्दु शुभ मन्द मरुत्प्रपाता) गन्धोदक की बूँदों से मंगलीक और मन्द मन्द वायु के साथ पड़ने वाली (उद्धा) उर्ध्व मुखी और (दिव्या) दिव्य ऐसी (मन्दरे सुन्दर नमरु सुपारिजात सन्तान कादि कुसुमोत्कर वृष्टि) मंदार सुन्दर नमरु सुपारिजात सन्तानक आदि कल्पवृक्षों के फूलों की वर्षा दिव आकाश से (पतित) पड़ती है। (वा) अथवा (ते) आपके (वचसा) वचनों की (तति) पंक्ती ही है।

श्री सोभारामजी—

मंदार नमेर पारिजातरु सतानकादि,
सुन्दर पुहुप के समूह बरषत हैं।
सोभित सुगंध जल बिंदु तें मनोज्ञ मंद,
मंद पौन तैं सुभार शीत करसत हैं॥
निर्मल गगन शुभ मंडल तें वृष्टि होत,
मन को हरति तब नैन निरखत हैं।
मानों एवचन रागनि की पांति आवति हैं,
भव्य जन अवलोक हिये हरखत हैं॥३३॥

श्री हेमराजजी

मंद पवन गंधोदक इष्ट, विविध कल्प तरू पहुप सुवृष्ट।
देव करैं विकसित दल सार, मानों द्विज पंकति अवतार॥३३॥

श्री नाथूराम प्रेमीजी —

गंधोदक बिन्दुन सों पावन, मंद पवन की प्रेरी।
पारिजात मंदार आदि के नव कुसुमन की ढेरी॥
ऊर्ध्व मुख ह्वै नभ सों बरसत, दिव्य अनूप सुहाई।
मानों तुव वचनन की पगति, रूप राशि धरि छाई॥३३॥

श्री गिरधरजी —

गंधोद बिन्दु युत मारुत से गिराई,
मंदार आदि तरु की कुसुमावली का।
होती मनोरम महा सुरलोक से हैं,
वर्षा मनों तव लसे वचनावली हैं॥३३॥

श्री कमलकुमारजी —

कल्प वृक्ष के कुसुम मनोहर पारिजात एवं मंदार।
गन्धोदक की मंद वृष्टि, करते हैं प्रमुदित देव उदार॥
तथा साथ ही नभ से बहती, धीमी धीमी मंद पवन।
पंक्ति बांध कर बिखर रहे हों, मानो तेरे दिव्य वचन॥३३॥

श्री नथमलजी —

संतानक मंदार मेरु सुन्दर सु कुसुम वर।
वर्षा होत अपार गगन तैं निरमित भुव पर॥
चलत समीर सुगंध वारि कन जुत बरसावत॥
किधों तुम्हार वचन सुधा पंक्ति दरसावत॥३३॥

भावार्थ—आप वचन की ध्वनि तीन लोक में सर्वत्र फैल गई। वह घनोदधि, घनवात को पार करती हुई तनुवात में जा पहुँची। तनुवात वलय के प्राणी अपने समान एक छोटे से प्राणी की अपूर्व

विजय सुनकर मानों मन ही हर्षित हो स्वागत करने के लिये मध्यलोक में आने का आयोजन किया।

जीवों का आदि और अन्त निवास एक ही है। आदि में जीव सूक्ष्मातिसूक्ष्म पुद्गल पिंडा में सकुचित हो, उसी में समाया हुआ रहता है। हमारे स्वस्थ्य शरीर के १८वें भाग जितने समय में हवा की गति के साथ वे पिंड ग्रहण त्याग होते रहते हैं। बुद्धिमान इसे जन्म मरण कहते हैं। यह अवस्था जीवों की अनादिकाल से रहती आ रही है। उन्हें निगोदिया कहते हैं। और पुद्गल वर्गणाओं को जिन्हान सर्वथा छोड़ दी है। वे अपने अन्तिम शरीर की आकृति में किंचित न्यून आकृति में रहते हैं। उन्हें सिद्ध कहते हैं।

तनुवात वलय में अनादिकाल से यह प्राणी रहता आ रहा है। तनुवात से मिलती जुलती घनवात है। हवा की गति से कोई प्राणी घनवात के भारी कम वर्गणा ले लेता है। तब उसकी चाल बिगड़ जाती है। और घनोदधि पार कर आगे बढ़ जाता है। तब इसका लोक के समान बढ़नेवाली तृष्णा के अंकुर उत्पन्न हो जाते हैं। यहाँ तृष्णा इन पुद्गल पिंडा का भार सहर्ष लादने को बाधित करती है। यह प्राणी पुद्गल पिंडा को ग्रहण त्याग करता हुआ इस लोक में भ्रमण करता रहता है। यही संसार है।

कोई प्राणी इस भार से दुखी होकर उसे छोड़ना चाहता है और उन्हें मार्ग मिल जाता है। जो वे इसे छोड़ते छोड़ते उतने से वैसे ही पिंड रह जाय तो पुन वहाँ जा सकता है। अन्यथा वहाँ से साथ लाये पुद्गल वर्गणाओं को यहाँ ही छोड़ अरूपी होकर वहाँ जाता है। उनकी आकृति त्यक्त शरीर से किंचित न्यून सदा शाश्वत बनी रहती है। वे जिन पुद्गल पिंडों ने उनको भ्रमाया था, वे भी उनमें समा जाते हैं। वे संसार में रहते हैं तब तक उनकी जीवन मुक्त अवस्था रहती है। उन्हें अरहन्त कहते हैं।

तनुवात यह जानकर मानो बड़ी प्रसन्नता से स्वागत के लिये प्रस्थान किया। घन और घनोदधि ने भी अपनी सहचारी का साथ

भावार्थ —यह स्तोत्र अल्पज्ञ और श्रुतज्ञ दोनों को परिहास का कारण होते हुए भी मेरे द्वारा हो रहा है। इस का वास्तविक कारण समय का सदुपयोग है। ऐसा समय दस कोडाकोडी सागर में चण मात्र के बराबर केवल चौथे काल में ही आता है। पहला दूसरा, तीसरा, काल क्रमश ४ ३ २ कोडाकोडी सागर के होते हैं। इनमें क्रमश उत्तम, मध्यम एव जघन्य भोग भूमि की रचना है। चौथा काल ४२ हजार वर्ष कम एक कोडाकोडी सागर का होता है। इसमें तीर्थंकर, चक्रवर्ती, कामदेव त्रेसठशाला एव मोक्षगामी जीव उत्पन्न होते हैं। पाचवाँ काल २१ हजार वर्ष का होता है। इसमें न संसारिक सुख होता है, और न मोक्ष की प्राप्ति होती है। छठा काल जोकि, २१ हजार वर्ष का होता है, उसमें दुख अत्यन्त बढ़ जाता है। आयु काय बल का पतन हो जाता है। पतन के पश्चात जैसे जैसे पतन हुआ था, वैसे वैसे उत्थान हो जाता है। उसका क्रम छठा, पाँचवा चौथा तीसरा, दूसरा एव पहला है। इसको उत्सर्पिणी काल कहते हैं।

अवसर्पिणी हो चाहे उत्सर्पिणी दोनों में ही चौथा काल प्रधान है वैसे ही वर्ष में छ ऋतुयें होती हैं उनमें वसन्त ऋतु प्रधान है। अनेक वनस्पतियाँ बिना वर्षा के ही स्वयमेव फलती फूलती हैं। आमा में म जरी निकलती है। ,कोयल और कौवा दोनों में अन्तर प्रकट होता है। कोयल की मधुर ध्वनि इस ही ऋतु में सुनी जाती है कौवे की अप्रिय ध्वनि बारहा महिने होती रहती है।

इसी प्रकार चतुर्थ काल में तीर्थंकर, चरम शरीरी तथा मोक्षगामी जीव भी उत्पन्न होते हैं। केवलज्ञान रूपीमन्जरी इसी काल में प्रगट होती है। भव्य और अभव्यों की भिन्नता भी इसी काल में प्रगट होती है। भव्य जन आपका स्तवन तथा गुणगान करते हुए इस काल में पाए जाते हैं। मोक्ष भी इसी काल मे होती है। जैसे वसंत ऋतु के पश्चात कोयलों का पता नहीं लगता है, वैसे ही चौथे काल के पश्चात मोक्षगामी जन रूपी कोयलों का पता नहीं लगता है।

पाँचवाँ काल चौथे काल से असंख्य गुणा अल्प है और चौथे के बाद ही आता है। अतः उसके प्रारम्भ में ही चौथे काल की आभा मात्र रह जाती है। छठे में यह आभा भी शान्त हो जाती है। यह स्तवन गुरुदेव से पाँचवे काल के प्रारम्भ में ही हुआ था।

गुरुदेव कहते हैं कि मेरे मुख से निकला हुआ यह स्तवन अल्पज्ञ और श्रुतज्ञ दोनों के लिए हास्यास्पद है किन्तु मैं अपने हृदय में आपकी प्रभा का अनुभव कर रहा हूँ जिससे मेरा मन अत्यन्त प्रफुल्लित तथा वचन वर्गणाएँ स्वयमेव वाचाल हो उठती हैं। मानो ऋतुराज वसन्त के प्रगट होते ही आमों की मञ्जरी भी महक तथा कोयलों की मधुर कूक स्वयमेव गूँज उठती है॥ ६॥

> त्वत्संस्तवेन भवसन्ततिसन्निबद्धं,
> पापं क्षणात्क्षयमुपैति शरीरभाजाम्।
> आक्रान्तलोकमलिनीलमशेषमाशु,
> सूर्यांशुभिन्नमिव शार्वरमन्धकारम्॥७॥

अन्वयार्थ —(आक्रान्त लोकम्) जिसने लोक को ढक लिया है (अलिनीलम्) भ्रमर के समान काला है। ऐसे (शार्वरम्) रात्रि के (अशेषम्) सम्पूर्ण (अन्धकारम्) अन्धकार को (आशु) शीघ्रता से (सूर्यांशु भिन्नम् इव) जैसे सूर्य की किरणें नष्ट कर देती हैं उसी प्रकार हे भगवान् (त्वत्संस्तवेन) तुम्हारे स्तवन से (शरीर भाजाम्) शरीरधारी जीवों का (भवसन्तति सन्निबद्धं) जन्म, जरा, मरण रूप संसार से बँधा हुआ (पापं) पाप (क्षणात्) क्षण भर में (क्षयम्) नाश को (उपैति) प्राप्त होता है।

श्री शोभारामजी —

> भव भव संतति अनेक धीर बार बार,
> मया की कलुष तातें सुधि को न स्रोत है।"

प्रभु जिनराज की भगति भाव चावतें सु,
बैन कहे पाप पल ही म दूर होत हैं ॥
जमे भुवि लोक में तिमिर फैल रह्यौ पूरि,
भ्रमर समान जाको श्याम रग पोत है।
ऐसे अति अन्धकार निशा के विनाशवे को,
छिन मे प्रभात समै भानु को उद्योत है ॥७॥

श्री हमराजजी —

तुम जस जपत जन छिन माहि, जनम जनम के पाप नशाहिं।
ज्यों रवि उगै फटै तत्काल, अलिवत नील निशा तम जाल ॥७॥

श्री नाथूराम प्रेमीजी —

जगवासियों के पाप भव भर के जुड़े छोटे बड़े।
तुव विरद गायें होंय छय छिन मे जिनेश खड़े खड़े॥
ज्यों जगत व्यापी भ्रमर सम तम नीलतमनिशि समय को।
तत्काल ही दिनकर किरन सो प्राप्त होनहिं विलय को ॥७॥

श्री गिरधरजी —

तेरी किये स्तुति विभो बहु जन्म के भी,
होते विनाश सब पाप मनुष्य के हैं।
भौंरे समान अति श्यामल जो अंधेरा,
होता विनाश रवि के कर से निशा का ॥७॥

श्री कमलकुमारजी —

जिनवर की स्तुति करने से चिर संचित भविजन के पाप।
पल भर में भग जाते निश्चित इधर उधर अपने ही आप॥
सकल लोक म व्याप्त रात्रि का भ्रमर सरीखा काला ध्वान्त।
प्रात: रवि की उग्र किरण लख हो जाता क्षण में प्राणान्त ॥७॥

श्री नथमलजी —

तुम जस जपत पाप जनन के भव भव केरे।
नाश होत छिन माहि लहत सुख सान घनेरे॥
फैलि रही जगमाहि नील अलि मम निशिकारी।
प्रगट होत रवि किरण नसत छिन मे तम भारी॥७॥

भावार्थ —पाँचवे काल में ज्ञान सूर्य की केवल आभा ही दिखाई देती है। सूय तो चोथे काल में ही उदय था। अब तो अस्त के पश्चात् सन्ध्या के रग विरगे बादलो की अवस्था से सूर्य का अनुमान होता है। यह अनुमान पूर्व स्थिति का ज्ञान होने से ही होता है। ऐसी वचन वर्गणायें पूर्व स्थिति के चिन्तवन मे ही निकलने लगती है।

वचन वर्गणाएँ यद्यपि जड है और इनसे भव सतति ही बढती है। किन्तु मेरे हृदय म आपकी भक्ति की प्रभा है और आपकी स्थिति का दृढ निश्चय है। अत इन वचन वर्गणाओं से आपका गुणानुवाद हो रहा है। उसकी प्रभा से ही मेरी भव सतति भग हो रही है। क्षण भर भी तेरा ध्यान बना रहे तो यह भव सतति का तारतम्य टूट जाता है। जैसे नीबू हमारी जिह्वा पर नही है, किन्तु उसके रस का अनुभव करने से खट्टेपन का स्वाद तथा मुँह से पानी निकल जाता है। वैसे ही तेरे गुणा का अनुभव करने से परमानन्द होता है और भव सतति का तारतम्य टूट जाता है।

भव संतति अनादि काल से धाराप्रवाह चली आ रही है। इस भव सतति के भावों का तारतम्य टूटना ही कठिन है। यह तारतम्य एक क्षण के लिये भी टूट जाय तो भव सतति अपने आप अर्द्ध पुद्गल परावर्त्तन काल में ही नष्ट हो जाती है।

अनादि काल स आत्मा अपना रूप पुद्गल को ही मानता आ रहा है। पौद्गलिक शरीर अनत पुद्गल वर्गणाओं की सग्रहीत वस्तु है। इनका सगठन प्रतिक्षण बदलता रहता है। अनन्त प्रयत्न से भी

स्थायी नहा रह सकता। आत्मा एक है, अखण्ड है, त्रिलोकाकार है, अनादि निधन ह, अनन्त ज्ञान, दर्शन सुख,वीर्य रूप है। आकाशवत् अरूपी है। इसका शरीर के प्रमाण सकोच विस्तार होता रहता है। शरीर के सर्वथा बन्धन हटते ही यह अपने वास्तविक रूप में सदा शाश्वत बना रहता है। यह शुद्ध रूप आपने भी प्रगट किया है और म प्रगट करना चाहता हू।

गुरुदेव कहते हैं कि आपके स्तवन से भव संतति का तारतम्य क्षणमात्र में टूट जाता है। जैसे विश्व का आक्रान्त करने वाला घोर अन्धकार सूय की प्रभा से स्वयमव नष्ट हो जाता है।

मत्वेति नाथ तव मस्तवन मयेद
मारभ्यते तनुधियापि तव प्रभावात्।
चेतो हरिष्यति सतां नलिनीदलेषु
मुक्ताफल द्युतिमुपैति ननूदबिंदु ॥ ८ ॥

अन्वयार्थ –(नाथ) हे नाथ (इतिमत्वा) इस प्रकार पाप नाश करने वाला मानकर (तनुधिया अपि मया) थाडी सी बुद्धि वाला हूँ, तो भी मेरे द्वारा (इदम्) यह (तव) तुम्हारा (स्तवन) स्तोत्र (आरभ्यते) आरम्भ किया जाता है। सो (तव) तुम्हारी (प्रभावात्) प्रभा से (सतां) सज्जन पुरुषो के (चेत) चित्त को (हरिष्यति) हरण करेगा। जैसे कि (नलिनी दलेषु) कमलिनी के पत्तों पर (उदबिन्दु) पानी की बिन्दु (ननु) निश्चय से (मुक्ताफल द्युतिम्) मुक्ताफल की शोभा को प्राप्त होता है।

श्री सोभाराम जी—

ऐसे मैं विचार निरधार कीनों जानि कै सु,
यद्यपि अलप बुद्धि तउ चित चाव है।
नाथ तो प्रमाद तैं स्तोत्र को उच्चार होत,
जाके परभाव जगनाल को अभाव है॥

तुम गुण उत्तम अनन्त गुणमाल इहै,
सत चित्त रन्चिवे को प्रगट प्रमान है।
जैसे कमलनि पत्र जल बूँद माँझ रहें,
निरमल मोती की प्रभा को दरसात हैं ॥८॥

श्री हेमराजजी —

तुव प्रभावतैं कहूँ विचार, होगी यह थुति जन मन हार।
ज्यों जल कमल पत्र पे परै, मुक्ताफल की द्युति विस्तरै ॥८॥

श्री नाथूराम प्रेमीजी —

जिनराज अस निय जानि के यह आप की निरदावली।
थोरी समझ मेरी तउ प्रारम्भ करत उतावला॥
हरि है सुमन सो सज्जनन के प्रभु प्रभूत प्रभाव सों।
जलविन्दु जैमे जलज दल परि दिपत मुक्ता भाव सों ॥८॥

श्री गिरधरजी —

यों मानि की स्तुति मुक्त अल्पधी ने,
तेरे प्रभाव वश नाथ यही हरेगी।
सत्लोक के हृदय को जल विन्दु भी तो,
मोती समान नलिनी दल पै सुहाते ॥८॥

श्री कमल कुमारजी —

मैं मति हीन दीन प्रभु तेरी शुरू करूँ स्तुति अघहान।
प्रभु प्रभाव ही चित्त हरेगा सन्तों का निश्चय से मान॥
जैसे कमल पत्र पर जल कण मोती कैसे आभावान।
दिपते हैं फिर छिपते हैं असली मोती में हे भगवान ॥८॥

श्री नथमलजी --
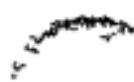
तुम प्रभाव तैं कहूँ तुम्हारी थुति मन हारी।
मैं अजान मति हीन कहन नहीं शक्ति हमारी॥
सज्जन जन मन हरन तरन के हैं गुरु करता।
ज्यों नीरज दल नीर बूँद मोती सी धरता॥८॥

भावार्थ —हे प्रभो ! मैं भली प्रकार जान गया हूँ कि जैसे सूर्य की प्रभा से अन्धकार नष्ट हो जाता है। वैसे ही तेरे स्तवन से भव सतति नष्ट हो जाती है। साथ म में यह भी समझता हूँ कि मुझ में तेरे स्तवन करने की योग्यता नही है। अज्ञानी छोटे बालक में योग्यता कहाँ से हो सकती है। उसे तो अब प्राप्त करना है। धीरे धीरे अभ्यास करते करते ही योग्यता प्राप्त होती है। गुरू उसे स्वयमेव योग्य बनाते हैं। जिन शिष्यों में विनय, गुरु भक्ति, सेवा भाव हा ऐसे ही शिष्यों को गुरू अपनी अनुपम विद्या से निपुण बनाते हैं। शिष्य गुरू वचन रूपी अमृत पीकर मिथ्यात्व, अज्ञान रूपी विष को दूर कर अपने आप विचक्षण बन जाते हैं। समय पाकर शिष्य गुरू बन कर गुरू परम्परा के अनुसार अपने शिष्यों को योग्य बनाते हैं। ऐसी रीति सदा से चली आ रही है।

मैं इस नीति के अनुसार आपका स्तवन आरम्भ कर रहा हूँ। मेरा विश्वास है कि यह मेरा स्तवन सरल हृदयी संत जनों के मन को अवश्य ही प्रसन्न करेगा। ससार रूपी सरोवर अनन्त जीव रूपी जल कणों से भरा पडा है। उसी गद मैले जीव रूपी जल में अरहत रूपी कमल उत्पन्न होते हैं और वे उसी म रहते हैं। किन्तु एक बार विकसित होने पर वे कदापि कीचड़ मे नहा फँसते, तथा अनुपम शोभा को धारण किये रहते हैं। उनके गुणानुवाद रूपी पत्ते भी उस ही पानी पर फैल हुए हैं। भव्य जीवों के वचन रूपी जलकण मिथ्यात्व रूपी मल के छूटने ही उछल कर गुणनुवाद रूपी पत्तों पर आ पड़ते

हैं। तब वे ही पद, वाक्य मोती के जैसे संत जनों का मन हरण करने लगता है।

गुरुदेव कहते हैं कि मेरी आत्मा पर कर्मों के आवरण हैं। इससे यथार्थ स्तवन होना असम्भव है। तब भी पौद्गलिक शब्दों से मेरे द्वारा जो स्तवन हो रहा है। यह भी सतजनों के मन को वैसे ही हरण करेगा जैसे कमल के पत्तों पर पड़ी हुई पानी की बूँदें मोती के समान दृष्टि गोचर होती हुई दर्शकों का मन हरण करती है ॥८॥

आस्तां तव स्तवनमस्तसमस्तदोषं
त्वत्सङ्कथापि जगतां दुरितानि हन्ति।
दूरे सहस्रकिरणः कुरुते प्रभैव
पद्माकरेषु जलजानि विकासभाञ्जि ॥९॥

अन्वयार्थ —जैसे (सहस्रकिरण) सूर्य तो (दूर) दूर ही रहो (प्रभा एव) उसकी प्रभा ही (पद्माकरेषु) तालावों में (जलजानि) कमलों को (विकास भाञ्जि) प्रकाश मान (कुरुते) कर देती हैं। इसी प्रकार हे जिनेन्द्र (अस्त समस्त दोषं) अस्त हो गये हैं समस्त दोष जिसके अर्थात् दोष रहित ऐसे (तव) तुम्हारा (स्तवन दूरे आस्तां) स्तोत्र तो दूर ही रहे (त्वत्सङ्कथा अपि) चर्चा ही अथवा तुम्हारी इस भव सम्बन्धी सम्यक् कथा ही (जगतां) जगत के जीवों के (दुरितानि) पापों को (हंति) नाश करती है।

श्री शोभारामजी —

हे त्रिलोक नाथ सब दोष के हरन हार,
सुन्दर स्तोत्र तुम दूर रहो तब ही।
अरहत नाम सुमरण के उचार ही तैं,
जगत के जीवन के पाप हरैं सब ही ॥

जैसे दिनकर निज महस किरनगत,
जोजन अमित मान निकट न जब ही।
ताकी परकाश ही कमल सर माँझ तिन्हें,
प्रफुल्लित करिबे को दूर नहीं कब ही ॥९॥

श्री हेमराजजी —

तुम गुण महिमा हत दुख दोष, सो तो दूर रहो गुख पोष।
पाप विनाशक हैं तुम नाम, कमल विकाशी ज्यों रविधाम ॥९॥

श्री नाथूराम प्रेमीजी —

सब दोष रहित जिनेश तेरी बिरद तो दूर हि रहै।
तुव कथा ही इस जगत के सब पाप पुञ्जनि को दहै॥
सूरज रहत हैं दूर ही पै तासु की किरणावली।
सरवरन में परि करत हैं प्रमुदित सकल कुमुदावली ॥९॥

श्री गिरधरजी -

निर्दोष दूर तब हो स्तुति का बनाना,
तेरी कथा तक हरे जग के अघों को।
हो दूर सूर्य करती उसकी प्रभा ही,
अच्छे प्रफुल्लित सरोजन को सरों में ॥९॥

श्री कमलकुमारजी —

दूर रहे स्तोत्र आपका जो कि सर्वथा है निर्दोष।
पुण्य कथा ही किन्तु आपकी हर लेती है कल्मष कोष॥
प्रभा प्रफुल्लित करती रहती सर के कमलों को भरपूर।
फैंका करता सूर्य किरण को आप रहा करता है दूर ॥९॥

श्री नथमलजी —

> तुम गुन महिमा दोष रहित सो दूरि रहो अब।
> हे प्रभु तेरी कथा जगत के पाप हरत सब॥
> दूर रहत अति भानु कमल हैं सरवर माहीं।
> करत प्रफुल्लित ताम प्रभा निसि मगें नाहीं॥९॥

भावार्थ —पत्तों पर पडी हुई पानी बून्दें की मोती नहीं हैं। वास्तव में पत्ते और पानी दोनों ही पुद्गल हैं। न हैं। हमारे दृष्टिकोण का अन्तर है।

सारे विश्व में केवल छः ही द्रव्य हैं। जिनमें आकाश, धर्म, अधर्म ये तीनों तो एक एक द्रव्य हैं। यह सर्वांश शाश्वत अखण्ड, अरूपी एक ही आकृति में समाये हुये और अपने ही स्वरूप में रहते आ रहे हैं। चौथा काल द्रव्य बिखरे हुए रत्नकण के समान इसी लोक में सर्वत्र भरा पडा है। इसी रत्न कण के गति परिवर्तन को ही समय कहते हैं। पाँचवाँ पुद्गल द्रव्य अनन्तानन्त है। इसका शुद्ध स्वरूप अणु है। अनन्त अणुओं का पिंड निषेक अनन्त निषेकों का समूह वर्गणा अनन्त वर्गणाओं का समूह पिंड कहलाता है। निषेक, वर्गणा, पिंड, महा पिंड आदि से सारा लोक भरा पड़ा है। ये दो प्रकार की हैं। सूक्ष्म और स्थूल। सूक्ष्म दृष्टिगोचर नहीं होता। स्थूल वर्गणायें ही इन्द्रियों द्वारा दीखती हैं। इनमें अत्यन्त अन्तर है। ऊपर युक्त पाँच द्रव्य अचेतन हैं। छठा केवल एक आत्मा ही चेतन स्वरूप है। आत्मा अरूपी, अखण्ड, ज्ञाता और दृष्टा है। यह लोकाकाश के समान है। उसमें संकोच तथा विस्तार की शक्ति है। आत्माएँ अनन्त हैं।

आत्माएँ अनादि काल से संकुचित रूप में पुद्गल पिंडों में रहती आ रही हैं। इसको वैभाविक अवस्था कहते हैं। कारण पाकर यह अपने स्वरूप को पहचान ले और इनसे अपने को भिन्न करले जब सारे पुद्गल पिंड से दृष्टि हट जाती है तब आत्माएँ सिद्ध पर्याय की प्राप्ति करती हैं। और यही आत्मा का स्वाभाविक रूप है।

क्या काम हैं जगत में उन मालिकों का,
जो आत्म तुल्य न करें निज आश्रितों को ॥१०॥

श्री कमलकुमारजी —

त्रिभुवन तिलक जगपति हे प्रभु सद् गुरुओं के हे गुरुवर्य।
सद्भक्तों को निज सम करते, इसमें नहीं अधिक आश्चर्य ॥
स्वाश्रित जन को निज सम करते, धनी लोग धन धरनी से।
नहीं करें तो उन्हें लाभ क्या? उन धनिकों की करनी से ॥१०॥

श्री नथमलजी —

त्रिभुवन के आभरन जगन के पति हितकारी।
सत्य सुगुन करि भूमि निपै थुति करैं तिहारी ॥
तुम समान जो होय कहो को अचरज याम।
गहैं सधन को सरन करैं नहि समकित कामें ॥१०॥

भावार्थ —आपकी कथा वार्ता आपका चिंतवन, ध्यान, गुणानुवाद से हृदय में अत्यन्त आनन्द उत्साह होता है। वास्तव में देखा जाय तो यह कथा एवं गुणानुवाद मेरे स्वयं के ही हैं। आप और मुझ में जब तक अन्तर मालूम होता है, तब तक ही संसार है। जब मेरी आत्मा, आत्मा में लीन हो जायगी, उस समय तू और मैं का भेद ही नहीं रहेगा। मैं वर्तमान में राग में फँसा हुआ हूँ और इन्हीं के द्वारा गुणानुवाद कर रहा हूँ। किन्तु मेरा ध्येय आप जैसा होने का है। अतः मैं इन पुद्गल पिंडों को अपना साधन बनाने के लिये इनको भी आपके गुण कथन की ओर लगा रहा हूँ। पुद्गल पिंडों के द्वारा किंचित आपकी आभा ही पड सकती है। इतनी आभा के सहारे से मैं आप तक पहुँच सकता हूँ।

पुद्गल पिंड अनन्तानन्त प्रकार के हैं। प्रायः एक दूसरे से नहीं मिलते। गृहीत पिंडों के कारण प्राणियों के भाव भी भिन्न-

भिन्न प्रकार के होते हैं। वे स्थिति पूर्ण होते ही अपना रसास्वादन कराते हुये तथा बिना कराये भी अलग होते रहते हैं। इनके विपाक भिन्न भिन्न प्रकार के फल देते हैं। प्राय अपने विपाक अप्रिय और दूसरा के प्रिय मालूम होते हैं। तब वे अपने विपाक और दूसरों के विपाक फल से ईर्षा करते रहते हैं। तदुपरान्त प्राणी असतुष्ट हो पुन बन्धन करते रहते हैं। यह इतना दृढ़ और अपार जाल है कि जिससे जीवात्मा का छुटकारा असम्भव सा हो जाता है। जाल मुक्त होने के लिये तृष्णा के वशीभूत होकर आशा सहित व्यर्थ सदा छटपटाते रहते हैं। वे वैभाविक पुद्गल पिंडो की भिन्न भिन्न अवस्था को धन, दौलत, सम्पत्ति तथा ऐश्वर्य समझते हैं और उस ही के लिये दूसरा की अधीनता स्वीकार करते हैं। वह उन्हें मिल नहीं सकती। फिर दीन, हीन, भिखारी बनने से क्या लाभ? आपने अपने ही गुण व्यक्त किये हैं। जो मुझ में भी समान रूप से शक्ति रूप में है। न वे अब तक किसी से छीने गये हैं और न छीने जा सकते हैं। अत आपके गुणानुवाद करने से निज गुण स्वयमेव प्रगट प्रगट हो जाते हैं। फिर उन्हें पराये जड पदार्थ, अस्थायी असमान सदा दुखी करने वाले (पुद्गल पिंड) कैसे प्रिय हो सकते हैं।

गुरुदेव कहते हैं कि जिन प्राणियों ने अपनी आत्मा का शुद्धरूप और आपका शुद्ध पिंड जान लिया है। वे अपने आप आप समान हो जाते हैं। इसमें आश्चर्य नहीं है। जो पुद्गल पिंडों के संग्रह से अपने को महान मानते हैं। व अस्थायी, नाशवान हैं। उनके कारण उनका मान सेवा इत्यादि की नाय तो वे पूरे प्राप्त नहीं हो सकते हैं। और न स्थिर रह सकते हैं। ऐसा की सेवा वा प्राप्ति से क्या लाभ?

> दृष्ट्वा भवन्तमनिमेषविलोकनीय
> नान्यत्र तोषमुपयाति जनस्य चक्षु ।
> पीत्वा पय शशिकरद्युतिदुग्धसिन्धो
> क्षार जल जलनिधेरसितु क इच्छेत् ॥११॥

अन्वयार्थ—हे भगवान् ! (अनिमिषविलोकनीयं) अनिमिष अर्थात् टिमकार रहित नत्रों से सदा देखने योग्य (भवन्तम्) आपको (दृष्ट्वा) देखकर के (जनस्य) मनुष्यों के (चक्षु) नेत्र (अन्यत्र) दूसरी में अर्थात् और और देवों में (तोषम्) संतोष को (न उपयाति) नहीं प्राप्त होते हैं। सो ठीक ही है। क्योंकि (शशिकर द्युति दुग्ध सिंधो) चन्द्रमा की किरणों के समान उज्ज्वल है शोभा जिसकी ऐसे क्षीर समुद्र के (पयः) जल को (पीत्वा) पीकर के (कः) ऐसा कौन पुरुष है जो (जलनिधेः) समुद्र के (क्षार जल) खारे पानी को (असितुं) पीने की (इच्छेत्) इच्छा करता है।

श्री शोभारामजी —

तुम छवि सुन्दर मनोग्य कोटि काम हूँ तें,
निरखत लोचन ही पलक न लागि हैं।
याही तें अनेक हरिहर आदि आन देव,
देखन को मेरी चित रच हूँ न पागि हैं॥
ज्यों शुभ सुधाकर किरनि सम खीरोदधि,
नीर पान करि रुचिवत अनुरागि है।
तैसे वह जन त्रिषावन्त भयो है तोउ,
दृग अवलोकत ही खार जल त्यागि है॥११॥

श्री हेमराजजी —

इक टक जन तुमको अवलोय, अवर विषै रति करै न सोय।
को करि क्षीर जलधि जल पान, क्षार नीर पीवै मतिमान॥११॥

श्री नाथूराम प्रेमीजी —

अनिमेष नित्य विलोकनीय जिनेश तुमहि विलोकि के।
पुनि और ठौर न तोष पावहि, जन नयन इस लोक के॥

नव नीर पीकर चाँदनी सौ छीर निधि को पावनों।
कहो कौन पीवै सरित पति को, खार जल असुहावनो ॥११॥

श्री गिरधरजी —

अत्यन्त सुन्दर विभो तुझको निहार,
अन्यत्र आँख लगती नहीं मानवों की।
क्षीराब्धि का मधुर सुन्दर वारि पीके,
पीना चहे जलधि का जल कौन खारा ॥११॥

श्री कमलकुमारजी —

हे अनिमेष विलोकनीय प्रभो, तुम्हें देखकर परम पवित्र। -
तोषित होते कभी नहीं हैं, नयन मानवों के अन्यत्र ॥
चन्द्र किरण सम उज्ज्वल निर्मल क्षीरोदधि का कर जल पान।
कालोदधि का खारा पानी पीना चाहे कौन पुमान ?॥११॥

श्री नथमलजी —

तुमको हे जगनाथ मनुज इकटक अवलोई।
लोचन तीके और विषै रति करै न कोई॥
चन्द्र किरण सम क्षीर उदधि जल पीवत लोनन।
क्षार समुद्र जल ग्रहन कौन वाञ्छा तु धरै मन ॥११॥

भावार्थ -हे प्रभु ! आपके स्वरूप के और पुद्गल पिंडों की अवस्था को जिसने जान लिया है, उसकी आत्मा सदा प्रफुल्लित हो आपको ही देखने में सन्तुष्ट होती है।

संसार में दो शक्तियाँ अनादि काल से हैं। एक आत्मा दूसरा पुद्गल। आत्मा, अरूपी, असंख्यात प्रदेश में व्यापक ज्ञाता दृष्टा है। तथा पुद्गल रूपी, व्याप्य जड़, अचेतन है। दोनों में ही अनन्त शक्ति है। अपनी अपनी योग्यता से दोनों ही अनुपम हैं। एक दूसरे से भिन्न हैं। और अपने ही रूप में परिवर्तित होते रहते हैं

दूसरे का कार्य नहा करते। मिले जुले रहते अनन्त काल व्यतीत हो गये परन्तु एक दूसरे के गुण स्वभाव किंचित मात्र भी नहीं मिले। पुद्‌गल स्पर्श, रस, गंध और वर्णमय है। आत्मा रस, स्पर्श, गन्ध वर्ण रहित है। उसके देखने के लिये कोई नियत स्थान नहीं है, वह तो अरूपी लोकाकाश के आकारवत् है। वह अपनी संकोच विस्तार शक्ति से शरीर प्रमाण व्यापक रूप में रहता है और सर्वांग से देखता रहता है। उस व्यापक स्वरूप को जिसने देख लिया है। जैसे कि आपका निरावरण शुद्ध स्वरूप है। उसे देखते हुये अपने स्वरूप में स्थिर हो जाते हैं। यह अवस्था जितने समय तक रहती है तब तक उस प्राणी की संसार से उदासीन अवस्था है और आत्मा की सचेत। संसार की सचेत अवस्था होते ही वह पूर्वावस्था स्वप्न में देखे हुये दृश्य की भाँति स्मृति में आते ही परम आनन्द होता है। आत्मा उस भव्य दृष्टि को पुन देखना चाहता है। चक्षु द्वारा अन्य अन्य पदार्थ देखते हैं। किन्तु उस आत्मा को अब किसी भी पदार्थ से संतोष नहा होता।

गुरुदेव कहते हैं कि जिस आत्मा ने आपको एक समय देख लिया है। अर्थात् अपने अनुभव में आपके सर्वाङ्ग को देख लिया है, उसके चक्षु अन्य पदार्थ से संतुष्ट नहीं होते। अथवा जिन चक्षुओं ने आपका रूप एक टक लगा कर देख लिया है, और जिनमें आपका रूप समा गया है। वे अब अन्य रूप देख कर संतुष्ट नहीं होते। क्योंकि जिन्होंने एक बार चन्द्रमा की कान्ति के समान उज्वल दुग्ध सरीखे मिष्ट क्षीर समुद्र के जल का पान कर लिया है, वे अन्य समुद्रों के खारे जल पीने की क्या इच्छा करें? (अर्थात् कभी भी नहीं करते) ॥११॥

यैः शांतरागरुचिभिः परमाणुभिस्त्वं,
निर्मापितस्त्रिभुवनैकललामभूत।
तावन्त एव खलु तेप्यणवः पृथिव्यां,
यत्ते समानमपरं न हि रूपमस्ति ॥१२॥

अन्वयार्थ—(त्रिभुवनैकललामभूत) तीन लोक के एक शिरो भूषण भूत (थे) जिन (शान्त राग रुचिभि) शान्त भावों के छाया रूप (परमाणुभि) परमाणुओं से (त्व) तुम (निर्मापित) बनाए गए हो (खलु) निश्चय करके (ते) वे (अणव) परमाणु (अपि) भी (तावन्त एव) उतने ही थे (यत्) क्योंकि (तेसमानम्) तुम्हारे समान (रूपम्) रूप (पृथिव्या) पृथ्वी में (अपर) दूसरा (नहि) नहीं (अस्ति) है।

श्री शोभारामजी —

सुरनर नाग तीनों लोक के तिलक एक,
तुम निरमापित हो तनु के विधान तैं।
जिन परमाणु तैं रच्यो है स्वयमेव तन,
राग रुचि शान्ति छाय गई है वितान तैं।
वे ही अणु दिव्य तितने ही त्रिलोक माँझ,
याही तैं कहत भव्य वीतराग ज्ञान तैं।
तातैं तुम रूप तैं समान नहीं और रूप,
याही तैं कहत हो सुबुद्धि के प्रमाणतैं ॥१२॥

हेमराज —

प्रभु तुम वीतराग गुण लीन, जिन परमाणु देह तुम कीन।
हैं तितने ही ते परमाणु, यातैं तुम सम रूप न आन॥१२॥

श्री नाथूराम प्रेमीजी —

त्रिभुवन शिरो भूषण अनुपम, शान्त भावन सों भरे।
जिन रुचिर शुचि परमाणु बनसों आप बन के अवतरे॥
ते अनुहते जग में तिते ही, जानि ऐसो सुहि परे।
जातैं अपूरब आप जैसो, रूप नहीं कहु लखि परै ॥१२॥

श्री गिरधरजी —

> जो शान्ति के सुपरमाणु प्रभो तनु मे,
> तेरे लगे जगत मे उतने वही थे ।
> सौंदर्यसार जगदीश्वर चित्त हर्त्ता,
> तेरे समान इससे नहि रूप कोइ ॥१२॥

श्री कमलकुमार जी —

> जिन जितने जैसे अणुओं मे निर्मापित प्रभु तेरी देह ।
> थे उतने वैसे अणु जग मे शान्त रागमय नि सन्देह ॥
> हे त्रिभुवन क शिरो भाग क अद्वितीय आभूपण रूप ।
> इसीलिए तो आप सरीखा नहीं दूसरो का है रूप ॥१२॥

श्री नथमलजी —

> जे परमाणु शान्त राग द्युति जुत जगमीहीं ।
> तिन करि त्रिभुवन तिलक रच्यो तुम तन सक नाहीं ॥
> ते परमाणु लोक विषै तितने ही जानूं ।
> यातै तुम सम रूप और को नाहीं मानूं ॥१२॥

भावार्थ —क्षीर समुद्र सार ससार म एक ही है । उसके जल के प्रत्येक कण स्वच्छ, सफेद कान्तिमान और दुग्धवत् मिष्ठ है । इसके अतिरिक्त इस एक राजू विस्तार वाले मध्यलोक में असख्यात द्वीप समुद्र हैं । समुद्र का पानी अस्वच्छ, अप्रिय और विकारी तथा खारा आदि है । इस प्रकार ससार में छ द्रव्य हैं । केवल जीव द्रव्य ऐसा है, जिसमें अनत, ज्ञान, दशन, सुख और वीर्य है । वे जीव चाहे निगोद राशि में हों चाहे त्रसो में हो या सिद्ध राशि में हो, सबके गुण, स्वभाव समान हैं । पुद्गल द्रव्य उससे अनत गुण है । वह चार रूप है । दोनों का मल नहा हो सकता ।

पुद्गल के स्पर्श, रस, गध और वर्ण ये चार मुख्य गुण हैं ।

स्पर्श-हलका, भारी रूखा, चिकना, नरम, कठोर, ठडा, गरम। रस - खट्टा मीठा, कडुवा-कपायला और चरपरा। गध सुगध और दुगन्ध। एव वर्ण काला, पीला, लाल, नीला और सफेद। इस प्रकार चार के उत्तर भेद बीस और इनके मेल से असख्य भेद हो जाते हैं। अणु की शुद्ध अवस्था में स्पर्श दो रस, गध तथा वर्ण के एक एक इस प्रकार पाँच पर्याय पाई जाती हैं। दो अणु मिलने पर उनकी अवस्था बदल जाती है। समान गुण के होने पर भी वे शुद्ध नहीं कहलाते। असख्य अणुओं का समूह निषेक, अनत निषेकों का समूह वर्गणा, अनत वर्गणाओं का समूह पिंड, महा पिंड बनते हैं। प्रत्येक वर्गणा निषेक और पिंड सख्या में प्राय समान नहीं होते। यदि सख्या में समानता भी हो तब एक दूसरे पिंड में विचित्रता होती है।

ससार में छोटी से छोटी वस्तु असख्य की सख्या में देखें और वे एक नाम एक गुण के होते हुये भी असमान ही होंगे। आँख, नाक, शरीर में छोटी, सी वस्तु हैं और सब ही सभी जीवों के पाये जाते हैं, किन्तु गहराई में देखे जाँय तो एक दूसरे से नहीं मिलते जब स्थूल वर्गणाएँ ही नहीं मिलती, तब सूक्ष्म वर्गणाएं कैसे मिल सकती है। कार्माण वर्गणा अत्यन्त सूक्ष्म अणुओं का पिंड है। प्रत्येक प्राणी के अनादि काल से प्रति समय अभव्य राशि से अनत गुणी कही जाती है। प्राणियों के भाव प्रति समय भिन्न भिन्न होने से भिन्न भिन्न प्रकार की वर्गणा ग्रहण में आती है और वे विपाक समय भी भिन्नता रखती है। भावों में विशुद्ध स्थिति जितनी अधिक होती है, उतनी ही वर्गणाओं में सहायता और विशेषता होती है।

तीर्थंकर प्रकृति सर्वोत्कृष्ट और परम विशुद्ध है। परम शांति, तीन लोक के जीवों के प्रति अगाध प्रेम, सब ही जीवों का सुखी देखने की उत्कट अभिलाषा, के परिणामों से बधती है। अत इसका उदय विपाक भी अनुपम है। सारी पुन्य प्रकृतियाँ अनुपम रूप से उदय में आती हैं। इस प्रकृति का बध केवली, श्रुत केवली के निकट होता है अत इस बन्धन में परम विशुद्धता है और वह

इसलिये है कि अधिक से अधिक तीसरे भव में परम अतिशय प्रगट होकर मोक्ष हो जाती है। कर्म पिंड एक ही प्रकार की सादृश्यता लिए हुए आते हैं। अत तीन लोक म शाति, राग, रुचि का ऐसा अपूर्व समह दूसरे के नहीं होता।

गुरुदेव कहत है कि आपका शरीर जिन परमाणुओं से बना है, वे परमाणु तीन लोक में उतने ही थे। अत आपके समान त्रिलोक में दूसरा और कोई रूपवान नहा है जिसके शान्ति, राग रुचि उत्पन्न हो ॥१२॥

> वक्त्र क्वते सुरनरोरगनेत्रहारि,
> निश्शेषनिर्जितजगत्त्रितयोपमानम् ।
> बिम्ब कलकमलिन क्व निशाकरस्य,
> यद्वासरे भवति पाण्डुपलाशकल्पम् ॥१३॥

अन्वयार्थ हे नाथ! (सुरनरोरग नेत्रहारि) देव मनुष्य और नागों के नेत्रों के हरन करने वाला तथा (नि शेषनिर्जितजगत्त्रितयोपमानं) जीती है तीन लोक के कमल, चन्द्रमा, दर्पण आदि सब ही उपमाये जिसने ऐसा (क्व) कहाँ तो (ते) तुम्हारा (वक्त्र) मुख और (क)कहाँ (निशाकरस्य) चन्द्रमा का (कलङ्कमलिन) कलंक से मलीन रहने वाल (बिम्बं) मडल (यत्) जो कि (वासरे) दिन में (पाण्डु पलाश कल्पम्) पलाश के अर्थात् ढाक के पत्ते के समान पीला (भवति) होता है।

श्री शोभारामजी —

> कहाँ प्रभु सुन्दर मुखारविन्द ज्योतिवत,
> कहाँ शशि मडल की मुख सो समानता।
> सुर द्युति सुर नर नाग के हरति मन,
> शशि सकलक अङ्क होत न प्रमानता॥

तुव मुख तिहुँ जगत की ज्योति जीतिबे को,
कलकी चन्द्र मडल की कौन करै मानता।
दीसे अति अन्तर जु चन्द्रबिंब दिवस में,
ढाक पात के समान ज्योति की समानता ॥१३॥

श्री हेमराजजी —

कहँ तुम मुख अनुपम अविकार, सुरनर नागनयन मन हार।
कहाँ चन्द्रमण्डल सकलंक, दिन मे ढाक पत्र सम रंक ॥१३॥

श्री नाथूराम प्रेमीजी —

त्रिभुवन शिरो भूषण अनुपम, शान्त भावन सो भरे।
जिन रुचिर शुचि परमाणु धन सो, आप बनि के अवतरे॥
वे अणुदले जग में तिते ही जानि ऐसी सुद्दि परै।
जातै अपूरव आप जैसो रूप नहीं कहुँ लख परै।

श्री गिरधरजी —

तेरा कहाँ मुख सुरादिक नेत्ररम्य,
सर्वोपमान विजयी जगदीश, नाथ।
त्योंहीं कलङ्कित कहाँ वह चन्द्रबिम्ब,
जो हो पडे दिवस म द्युति हीन फीका॥ १३॥

श्री कमलकुमारजी —

कहाँ आपका मुख अति सुन्दर सुर नर उरग नेत्र हारी।
जिसने जीत लिये सब जग के जितने थे उपमाधारी॥
कहाँ कलकी बक चन्द्रमा रक समान कीट सा दीन।
जो पलाश सा फीका पड़ता दिन मे हो करके छवि छीन॥१३॥

श्री नथमलजी —

कहाँ तिहारो वदन उरग सुर नर दृग हारो।
जीत लई जिहि तीन भुवन की उपमा सारी॥
कहाँ निशाकर विम्ब कलङ्क सदैव सुधारत।
दिवस विसैं सो ढाक पत्र सम शोभा धारत॥१३॥

भावार्थ —तीर्थंकर प्रकृति का बन्ध या उदय केवल मनुष्य पर्याय में ही होता है। किन्तु उसकी सत्ता मनुष्य देव, नारक पर्याय में भी रह सकती है। विदेह क्षेत्र में तीर्थंकर प्रकृति का उदय उसी भव में भी हो सकता है। उनके तप ज्ञान व मोक्ष कल्याणक होता है। भरत और ऐरावत में होने वाले तीर्थंकरों के पाँचों ही कल्याणक होते हैं। अवसर्पिणी काल में होने वाले तीर्थंकर केवल देव पर्याय से ही आते हैं। और उत्सर्पिणी काल में देव और नरक दोनों ही पर्यायों से आकर तीर्थंकर हो सकते हैं। तीर्थंकरों का जन्म होने के पहले पन्द्रह मास पूर्व ही से उनका प्रभाव पड जाता है। छप्पन प्रकार की दिक्कुमारियाँ माता की सेवा करने आजाती हैं। देवोंपनीत खान, पान, व्यवहार से माता के गर्भ स्थान को उपपाद शैया सी बना देती हैं। नगर की शोभा अपूर्व इन्द्रादिक देव बनाते हैं। नरक पर्याय में वह जीव होवे तो छः मास पूर्व देवगण उस जीव के चारों ओर वज्र के पट बनाकर उसे अन्य नारकियों के दुखों से सुरक्षित कर देते हैं।

वर्त्तमान काल के सब तीर्थंकर देवगति से आये हुये हैं। छः माह में अपना मरण जान अन्य मिथ्यादृष्टि देव दुखी होते हैं। किन्तु इन को अपूर्व आनन्द होता है। जब देवगति को छोड़ माता के गर्भ में आता है तब सब प्रकार के देव माता पिता का पूजन कर अपूर्व उत्साह और आनन्द मनाते हैं।

नव मास इसी तरह आनन्द उत्साह की साथ व्यतीत करते

हैं। जन्म होते ही पुन चारो प्रकार के देव पूजन करते हैं। सुमेरु पर्वत पर आपका जन्माभिषेक उत्सव मनाया जाता है। देव बाल्य स्वरूप बनकर आपके बाल्य काल में अत्यन्त आनन्द से आपके साथ खेलते हैं। यौवन काल उन्य अनुसार सासारिक विषय भोगों म व्यतीत होता है।

समय आने पर आपका वैराग्य की ओर लक्ष्य जाता है। तब लौकान्तिक देव आकर आपकी वैराग्य की उत्कृष्ट स्तुति कर पुष्पाञ्जलि अर्पण करते हैं। उधर इन्द्रादिक देव महान, उत्कृष्ट, अनुपम पालकी म बैठाकर वनमें ले जाने की योजना बनाते हैं। उस पालकी को सात पैंड भूमिगोचरी, सात पैंड विद्याधर और पीछे इन्द्रगण अपने कन्धों पर रख चलते हैं। उस समय ज्योतिषियों के इन्द्र चन्द्र, सूर्य, व्यन्तरों के बत्तीस इन्द्र धरणेन्द्र इत्यादि, भवनवासियों चालीस इन्द्र और असख्यात देव देवियाँ साथ रहती हैं। किन्तु भगवान की पालकी के कन्धा लगाने का सौभाग्य सिवाय कल्पवासी देवों के अन्य को प्राप्त नहीं होता। सूर्य और चन्द्रमा हमारे लोक म मेरु की प्रदक्षिणा करते हुये आलोकित करते रहते हैं। हमारी दृष्टि में इनका प्रकाश महत्व की वस्तु है। किन्तु आपके प्रकाश के सम्मुख तो इनका अस्तित्व जुगनू के बराबर भी नहीं है।

गुरुदेव कहते हैं कि मनुष्यों की दृष्टि में आपके गर्भ, जन्म, तप कल्याणक आदि का कोई महत्व नहीं है। इनको तो पूर्ण कान्तिमान चन्द्रमा के समान दूसरा पदार्थ ही दृष्टिगोचर नहीं होता। परन्तु सत्य स्वरूप में भगवान के मुख का चन्द्रमा की उपमा की शोभा नहीं देती क्योंकि कहाँ तो कलङ्की, मैला, रात्रि करने वाला निशाकर जो कि दिन म पाडुवर्ण तथा ढाक के पत्ते की सी अवस्था में परिवर्तित हो जाता है और कहाँ भगवान् का उज्ज्वल मुख जिसे देखकर सुरनर नागेन्द्र सभी प्रसन्न होते हैं जिसकी उपमा तीन लोक में ढूंढने पर नहीं मिलती ॥१३॥

सम्पूर्णमण्डलशशाङ्ककलाकलाप
शुभ्रा गुणास्त्रिभुवनं तव लङ्घयन्ति ।
ये संश्रितास्त्रिजगदीश्वरनाथमेकं
कस्तान्निवारयति संचरतो यथेष्टम् ॥१४॥

अन्वयार्थ —(त्रिजगदीश्वर) हे तीन जगत् के ईश्वर (तव) तुम्हारे (सम्पूर्णमंडलशशाङ्ककलाकलापशुभ्रा गुणा) पूर्णिमा के चन्द्र मंडल की *कलाओं सरीखे उज्ज्वल गुण (त्रिभुवन) तीन* लोक को उलंघन करते हैं । अर्थात् तीनों लोकों में व्याप्त हैं। क्योंकि (ये) जो गुण (एकं) एक अर्थात् अद्वितीय (नाथम्) तीन लोक के नाथ को (संश्रिता) आश्रय करके रहते हैं। (तान्) उन्हें (यथेष्टं) स्वेच्छानुसार (संचरत) सब जगह विचरण करने से (कः) कौन पुरुष (निवारयति) निवारण कर सकता है—रोक सकता है ? कोई भी नहीं।

श्री शोभारामजी —

सपूरण मंडल कला समूह चन्द्रमा की,
ता समान उज्जल तुम्हारे गुणराज ही।
त्रिजग के ईस जगदीस आदि देव जिन,
त्रिभुवन लंघि पार हैं के छवि छाज ही॥
जे गुण अपार निसतार पाय तुम ही सौं,
लोक में प्रसिद्ध नित शाश्वत निराज ही।
तिन ही निवारवे को आन कौन हैं पुमान,
होत है स्वछंद मति मंद सों अकाज ही॥१४॥

श्री हेमराजजी —

पूरण चन्द जोति छविवंत,
तुव गुन तीन जगत लंघत।

एक नाथ त्रिभुवन आधार,
तिन विचरत को करै निवार ॥१४॥

श्री नाथूराम प्रेमीजी —

हे त्रिजगपति पूरण कलाधर की कला ज्यों ऊजरे।
गुण गण तिहारे विमल अतिशय भुवन तीन हुँ में भरे॥
जे परम प्रभु के आसरे मे रहे नित सेवा करें।
तिन को निवारन को करे चाहे जहाँ विचरे फिरें॥१४॥

श्री गिरधरजी —

अत्यन्त सुन्दर कला निधि की कला में,
तेरे मनोज्ञ गुण नाथ फिरे जगों में।
है आसरा त्रिजगदीश्वर का जिन्हों को,
रोके उन्हें त्रिजग मे फिरते न कोई॥१४॥

श्री कमलकुमारजी —

तव गुण पूर्ण शशाङ्क कान्तिमय,
कला कलाओं से बढ़के।
तीन लोक में व्याप रहे हैं,
जोकि स्वच्छता से चढ़के॥
विचरें चाहे जहाँ कि जिनको,
जगन्नाथ का एकाधार॥
कौन माई जाया रखता,
उन्हें रोकने का अधिकार॥१४॥

श्री नथमलजी —

तुम गुण पूरण चन्द किरण सम विमल निहारे।
तीन भुवन को तेज निरतर लघन हारे॥

त्रिभुवन नाथ तिहारे जे गुन आश्रय धारत।
निज इच्छा तें विचरत तिनकूं कौन निवारत ॥१४॥

भावार्थ—चन्द्रमा की उपमा आपके मुखारविंद से नहा दी जा सकती। किन्तु हमारी दृष्टि म चन्द्रमा की पूर्ण कला जितनी उद्योतकारी, शीतल मालूम होती है इससे बढ कर अपने भाव प्रगट करने क लिये अन्य उदाहरण ही नहा है।

चन्द्रमा हमारी पृथ्वी से हजारों कोस ऊँचा है। वह आकृति मे बहुत बडा है। उसका प्रकाश शीतल आह्लादकारी मालूम होता है। हजारा कोसों म जहाँ देखते है, वहाँ एकसा ही दिखाइ देता है। पानी में उसका प्रतिबिंब देखते हैं ता एक छोटासा खिलोना मालूम पडता है। छोटे बड सब ही प्रकार के पात्रों म उसका प्रतिबिम्ब देख सकते है। वह एक है, किन्तु उसके प्रतिबिम्ब असख्य पात्रों म देखे जा सकते हैं। जैसा पात्र हाता है, वह उसी आकृति म समा जाता है। जब रूपी पदार्थ की ही ऐसी अवस्था है, तब अरूपी की कल्पना रूपी द्वारा केवल समझाने के लिये ही कही जा सकती है। और वह प्रत्येक को अपनी भावनाओं के अनुसार भिन्न भिन्न प्रकार की मालूम होती है।

शुद्ध आत्मा धम अधम द्रव्य के समान ३४३ राजू के विस्तार में है। अलोकाकाश का विस्तार इससे अनत गुणा वर्णनातीत है। शुद्ध आत्मा परम निजोमय त्रिलोकाकार पिंड है। हमारी योग्यतानुसार हमारे भावों में उसकी अनेक आकृतियाँ अनेक प्रकार की मालूम होती हैं। और उसको उपमा दृष्टिकोण से उपमेय दिखाइ देती है। उसी से उसकी शाभा वर्णन करते हैं। किन्तु वह ता वर्णनातीत है।

गुरुदेव कहते ह कि चन्द्रमा की जितनी आकृति है, वह पूनम के दिन स्पष्ट दिखाई देती है। उस आकृति से यह अनन्त गुणे स्थान को आलोकित करता है। जब चन्द्रमा की प्रभा ही नहीं रुकती तो, आपकी आकृति तो त्रिलोकाकार है। और वह

श्री हेमराजजी —

जो सुर तिय विभ्रम आरम्भ, मन न डिग्यो तुम तो न अचभ ।
अचल चलावै प्रलय समीर, मेरु शिखर डगमगे न धीर ॥१५॥

श्री नाथूराम प्रेमीजी —

अचरज कहो इसमें कहा, यदि अप्सरायें स्वर्ग की ।
तुम अचल दृढ मन को न तनिकहुँ सुपथ सो च्युत कर सकी ॥
जिहि ने चलायें अचल ऐसो, प्रलय को मारुत महा ।
गिरिराज मदर के शिखर कहै, सो चलाय सकै कहा ॥१५॥

श्री गिरधरजी —

देवाङ्गना हर सकी मन को न तेरे,
आश्चर्य नाथ उसमें कुछ भी नहीं है ।
कल्पान्त के पवन से उड़ते पहाड़,
पै मन्दराद्रि हिलता तक है कभी क्या ?॥१५॥

श्री कमलकुमारजी —

मदकी छकी अमर ललनायें, प्रभु के मन में तनिक विकार ।
कर न सकी आश्चर्य कौनसा रह जाती हैं मन को मार ॥
गिर गिर जाते प्रलय पवन से तो फिर क्या वह मेरु शिखर ।
हिल सकता है रंचमात्र भी पाकर झंझावात प्रखर ॥

श्री नथमलजी —

सुर तिय करत कटाक्ष दोष, चित तुम थिर जो है ।
भयो न लेश विकार देव इह अचरज को है ॥
प्रलय पवन करि अचल चला चल औरज होई ।
मेरु शिखर चूलिका सुथिर डिगमगै न कोई ॥१५॥

भावार्थ—शुद्ध आत्मा की लोकाकाशवत् आकृति होते हुये भी शरीर प्रमाण संकुचित होकर शरीर म रहती है। उन्हें जीवन मुक्त या अर्हन्त भगवान कहते हैं। और शरीर का छोडने के पश्चात् उससे किंचित उन आकृति सिद्धावस्था में रहती है। उन्हें सिद्ध भगवान कहते हैं। सशरीर को सकल, और अशरीर को निकल परमात्मा भी कहते हैं। सकल परमात्मा की अवस्था से ससारी जीवों का कल्याण होता है। असख्य भव्य जीव आनन्द मग्न हुये उस अवस्था को देखने के लिये भक्ति पूर्वक आते हैं। और वहाँ शरीर की आकृति तथा स्थिति का यथावत रूप देख अरूपी आत्मा की परम तेजोमय अनन्त शक्ति का अनुभव करते रहते हैं।

चार प्रकार के शरीर धारी प्राणी अर्थात् देव, मनुष्य, नारकी और पशुओं में पुन्य-पाप के फल के प्रभाव से ही अन्तर प्रगट होता है। देव प्राय पुन्य और नारकी पाप फल भोगने के लिये ही होते हैं। दोनों का शरीर वैक्रियक और आयु नियत होती है। नारकीयों का शरीर छिन्न भिन्न होने पर भी पारेवत् मिल जाता है। मनुष्य पर्याय पापपुन्य दोनों के फल भोगते हुये, दोनों को सर्वथा दूर करने की सामर्थ्य रखती है। पशु पर्याय पुन्य फल न्यून और पाप फल अधिक भोगने को होती है।

देव जाति चार प्रकार की होती है अर्थात् वैमानिक, भवनवासी, व्यन्तर और ज्योतिषी। इनमें वैमानिक उर्द्धलोक, भवनवासी अधोलोक, व्यन्तर और ज्योतिषि मध्यलोक में रहते हैं। हमारी दृष्टि में इस पचम काल में उनका शरीर दिखाई नहीं देता। केवल ज्योतिषियों के विमान अपने ही प्रकाश से मालूम पड़ते हैं।

कल्पवासियों में निम्नलिखित दस जातियाँ हैं। इन्द्र, सामानिक, त्रायस्त्रिंशत्, पारिषद्, आत्मरक्षक, लोकपाल, अनीक, प्रकीर्णक, अभियोग और किल्विष। भवन व्यन्तर तथा ज्योतिषियों में त्रायस्त्रिंशत् लोकपाल नहीं होते। बाकी आठों प्रकार के होते हैं। कल्पवासियों में विशेषता होने से दश और भवन, व्यन्तर, ज्योति-

पियों की एक एक इस तरह तेरह प्रकार के देवों की देवियाँ त्रिदशागना कहलाती हैं। देवों का जन्म उत्पाद शैया में होता है। यह अन्तर मुहूर्त में पूर्ण यौवन सम्पन्न हो जाते हैं। इनका यौवन मृत्यु पर्यन्त एक सा बना रहता है। यह अपनी आकृति छोटी-बड़ी इच्छानुसार बना सकते हैं। किन्तु मूल शरीर में विकार नहीं होता। यह मन वाञ्छित भोग भोगने के लिये स्वतंत्र हैं।

देवियाँ भगवान् के शरीर का अनुपम सौन्दर्य देखकर बड़ी ही प्रसन्नता से हाव भाव और विभ्रम विलास द्वारा भगवान के मन को विचलित करना चाहती हैं। वे मोह वस इस बात को भूल गई हैं कि भगवान् का अपने मन से सर्वथा सम्बन्ध छूट गया है किन्तु मन विचलित न होने से उन्हें बड़ा ही आश्चर्य होता है।

गुरुदेव कहते हैं कि परम सुन्दरी तेरह प्रकार की देवाङ्गनायें अपने हाव भाव विलास के पूर्ण प्रयत्नों से भी आपके मनको लेश मात्र भी विचलित न कर सकीं, तो इसमें कौन सा आश्चर्य है कि कल्पान्त की प्रबल पवन सब ही प्रकार के पहाड़ों को चलायमान कर सकने वाली है, तो क्या वह सुमेरु पर्वत को चलायमान कर सकती है? कदापि नहीं।

निर्धूमवर्तिरपवर्जिततैलपूरः,
कृत्स्नं जगत्त्रयमिदं प्रकटीकरोषि।
गम्यो न जातु मरुतां चलिताचलानां,
दीपोऽपरस्त्वमसि नाथ जगत्प्रकाशः ॥१६॥

अन्वयार्थ —(नाथ) हे नाथ (त्वं) तुम (निर्धूम वर्ति) धूम तथा बत्ती रहित (अप वर्जित तैल पूरः) तेल के पूर रहित और जो (चलिता चलानां) पर्वतों के चलायमान करने वाले (मरुतां) पवन के (जातु न गम्यः) कदाचित भी गम्य नहीं है। ऐसे (जगत्प्रकाशः) [illegible] को प्रकाशित करने वाले (अपरः) अद्वितीय विलक्षण

श्री गिरधरजी —

सिंहासन स्फटिक रत्न जड़ा उसी में,
भाता विभो कनक कान्त शरीर तेरा।
जो रत्न पूर्ण उदयाचल शीश पे जा,
फैला स्वकीय किरणें रवि बिंब सोहे ॥२९॥

श्री कमलकुमार जी —

मणि मुक्ता किरणों से चित्रित,
अद्भुत शोभित सिंहासन।
कान्तिमान कंचन सा दिखता,
जिस पर तव कमनीय वदन॥
उदयाचल के तुङ्ग शिखर से,
मानों सहस्र रश्मि वाला।
किरण जाल फैला कर निकला,
हो करने को उजियाला ॥२९॥

श्री नथमलजी —

सिंहासन द्युति वन्त रतन मय ऊपर सोहैं।
कंचन वरण शरीर तिहारो जगमन मोहैं॥
ज्यों उतंग उदयाचल पै दिनकर द्युति धारैं।
किरननि जुत छविवंत जगत तम को सुनिवारैं ॥२९॥

भावार्थ—वृक्ष के नीचे एक तमोमय, दैदीप्यमान सूर्य के उदय से जगत में मंगल हो गया। इस प्रभा की किरणें तीनलोक में फैल गईं। स्वर्गवासी, भवनवासी, व्यन्तर, और ज्योतिषीदेव जय जयकार के नारे लगाते हुये पृथ्वी पर आने लगे। मनुष्य, तिर्यंच उनके नारों से सचेत हो, वे भी ध्वनि की तरफ चल दिये।

पृथ्वी माता ने हर्षोन्मत्त हो जगल की अद्भुत् सजावट आरम्भ की। उसकी देवगण सहायता करने लगे। कोसों में जमीन की सफाई कर समतल भूमि बनाई गई। छहों ऋतुओं के फल फूलों की वृक्षों से सुन्दर स्थान चारों ओर सजाया गया। भगवान को मध्य में रख उनके पास एक ऊचा विशाल चबूतरे के चारों दिशा में तीन तीन मार्ग नियत कर बाहर स्थान नियुक्त किये गये। चार प्रकार के देव उनकी देवियों के लिये, भिन्न, भिन्न ऐसे आठ स्थान, साधु महात्माओं के लिये एक, एक मनुष्यों के लिये, एक स्त्रियों के और एक पशुओं के लिये नियत कर दिये गये। चारो ओर कोट खाई सरोवर आदि बना कर तीन लोक में उत्तमोत्तम पदार्थ थे, उनसे सजाया गया।

पृथ्वी माता ने अपनी सम्पूर्ण शक्ति लगा कर स्थान को परम सुन्दर बना दिया। उसके उदर से अनन्त सन्तान हुई। वह सबका लालन पालन करती है वह उस पर मल मूत्र, खखार सड़े गले फल फूल, पत्ते आदि डालते हैं। उनको भक्षण कर सुन्दर फल फूल धान्यादि देती रहती है। वह इसके शरीर में गहरे गहरे घाव बना इसका रक्त चूसते रहते हैं। वह कभी क्रोध नहीं करती। उसके पुत्र आपस में झगड़ते मरते मारते हैं। वह किसी का पक्ष नहीं करती। किसी को बुरा भला नहीं कहती। वह मूक रूप से सबको अपने आदर्श चरित्र से शिक्षा देती रहती है। किन्तु कोई नहीं समझता। आज उसके उदर से भारतवर्ष में १८ कोड़ा कोड़ी सागर के पश्चात् यह पहला ही पुत्र है। जिसने उसकी शिक्षा अक्षरशः पालन की है।

पृथ्वी माता ऐसे अनुपम पुत्र को पाकर परम प्रसन्नता से फूली हुई हर्षोन्मत्त हो रही है। वह उन्हें अपने अंक में रखना चाहती है। किन्तु वे तो शुद्ध, अरूपी हो गये। शरीर भी शुद्ध अणुओं का पिंड बन गया। और गोद से उठकर आकाश में अधर स्थिर हो गये। माता उनके अत्यन्त उच्च भावों को समझ गई। तब भी प्रेम वश वर्षा के रूप में आनंदाश्रु बहा दिये। उसने अपने गुप्त भंडार से

सर्वोत्तम, अमूल्य, अनुपम हीरा पन्ना, माणिक, नीलम आदि निकाले। इन्द्रादि देवों ने माता की इच्छानुसार उन्हें सुडौल बना और एक रत्न का परम सुन्दर आसन बनाया। और उसे भगवान के शरीर के नीचे बिछा दिया।

गुरुदत्त कहते हैं कि रंग बिरंगे, अनुपम रत्नों से जड़ा हुआ रत्न सिंहासन पर आपका अत्यन्त देदीप्यमान स्वर्ण मयी शरीर ऐसा मालूम होता है कि मानो उदयाचल पर्वत पर अपनी देदीप्यमान किरणों का चँदवा ताने वाले सूर्य ही हों ॥ २९॥

कुन्दावदातचलचामरचारुशोभं
विभ्राजते तव वपुः कलधौतकान्तम्।
उद्यच्छशाङ्कशुचिनिर्झरवारिधार
मुच्चैस्तटं सुरगिरेरिव शातकौम्भम् ॥३०॥

अन्वयार्थ —हे जिनेन्द्र (कुन्दावदात चल चामर चारु शोभम्) ढुरते हुये कुन्द के समान उज्ज्वल चवरों से मनोहर हो रही है शोभा जिसकी ऐसा (कलधौत कान्तम्) सोने की सरीखी कान्ति वाला (तव वपुः) आपका शरीर (उद्यच्छशांक शुचि निर्झर वारिधारम्) उदय रूपी चन्द्रमा के समान निर्मल झरना की जल धारा जिसमें बह रही है ऐसे (शात कौम्भम्) स्वर्णमयी (सुरगिरेः) सुमेरु पर्वत के (उच्चैस्तटं इव) ऊँचे तटों की तरह (विभ्राजते) शोभित होता है ॥३०॥

श्री शोभारामजी —

सुरपति करत सरल चित चाव तेंसु,
कुंदवत धवल चवर चल चारू हैं।
जहाँ प्रभु जिनराज सोहत विराजमान,
कनक वरन छवि दीपति अपार हैं॥

जैसे ही समेर तट उन्नत सपत शृंग,
चन्द्र उदै होत सोभा को सिंगार है।
गिरै अति निर्मल सुउज्वल सुवारिधारि,
झरत झरनि मानों अमृत की धार है ॥३०॥

श्री हेमराजजी —

कुंद पहुत सित चमर दुरत, कनक वरन तुम तन शोभत।
ज्यों सुमेर तट निर्मल कान्त, झरना झरैं नीर उमगात ॥३०॥

श्री नाथूराम प्रेमीजी —

कनक वरन तव सुतनु जासु पर कुंद सुमन द्युति धारी।
चारु चमर चहुँ दुरत विशद अति सोहत योमन हारी।
सुर गिरि के कंचन मय ऊँचे तट पर ज्यों लहरावैं।
झरनन की उज्जल जल धारा, उदित इंदु सी भावैं ॥३०॥

श्री गिरधरजी —

तेरा स्वर्ण सम देह निभो सुहाता,
है श्वेत कुंद सम चामर के उडे से।
मोहे सुमेरू गिरी कांचन कान्तिधारी,
ज्यों चंद्र कांतिधर निर्झर के बहे से ॥३०॥

श्री कमलकुमारजी —

ढुरते सुन्दर चँवर विमल अति, नवल कुंद के पुष्प समान।
शोभा पाती देह आपकी रौप्य धवल सी आभावान ॥
कनका चल के तुङ्ग शृंग से झर झर झरता है निर्झर।
चन्द्र प्रभा सम उछल रही हो मानों उसके ही तट पर ॥३०॥

श्री नथमलजी —

कुन्द कुसुम सम धवल चँवर चौंसठ सुर ढारत।
कचन वरण शरीर तिहारो अति छवि धारत॥
ज्यों सुमेरु तट निर्भ झरत झरना उमगते।
चन्द्र किरण सम अमल सोभ अति ही जु धरते॥३०॥

भावार्थ —भगवान माता का गोद में रहने व कष्ट से मुक्त कर आप अधर हो गये। माता न अनुपम सिंहासन बना कर उनके नीचे बिछा दिया। उस पर भी व नहा विराज और अधर आकाश में ही स्थिर रहे। मोह वस माता को कष्ट हुआ। किन्तु वह समझ गई कि अरूपी आत्मा अरूपी आकाश में विलीन हो रहा है। किन्तु पुद्‌गल पिंड तो रूपी जड़ है, स्थूल है सदा से मेरे आश्रित है। यह कैसे अधर हो रहा है। तब उसने और गहरा विचार किया तो, उसकी समझ म आगया कि मोह जो अपनी सचिक्कणता से इन अणुओं के पिंड को दृढ बना रक्खा था, वह सचिक्कणता सर्वथा नष्ट हो गई। यह तो बालू पिंड सदृश केवल आकृति मात्र है। यह प्रत्यक अणु भिन्न हैं। इसी से यह अप्रतिघात है। तब ही अधर हो गये हैं और यह कितने सूक्ष्म बन गये कि स्थूल और सूक्ष्म अणु बिना टकराये ही पार हो जाते हैं।

पृथ्वी माता यह सब जान गई, किन्तु मोह वस भ्रम में पड़ गई। उसने जय जय कार के नारे लगाते हुये, सब ही दर्शक प्राणियों को आदेश दिया कि भगवान् ने अपने से सम्बन्ध तोड़ दिया है। और यह अरूपी आकाश म विलीन हो रहे हैं। यह पुद्‌गल पिंड भी छिन्न भिन्न हो गया। यह क्यों एकाकी रहते हैं। हम सब लोग इनकी सेवा भक्ति कर रहे हैं। ये हमारे में रहें, अत आप प्रतिनिधि मंडल द्वारा इन्हें यहाँ रहने की प्रार्थना करें।

समवशरण समान अवसर प्राप्त होने के स्थानों में सब ही प्रकार के प्राणी थे। स्वर्गों के इन्द्र, प्रत्येन्द्र, बारह व चौबीस,

वासियों के ४०, व्यन्तरों के ३२ ज्योतिषियों के २, मनुष्यों में चक्रवर्ति और पशुओं में सिंह ऐसे १०० प्रतिनिधियों रूप में आगे बढ़कर भगवान के निकट चबूतरे पर गये। प्रतिनिधि गण परम, सुन्दर, स्वच्छ चमरों को ऊँचे नीचे ढोरते हुये आगे बढ़ने लगे। किन्तु वे शरीर तक पहुँचना तो दूर रहा, सिंहासन को भी स्पर्श न कर सके। उनकी भगवान के अनुपम तेज से जबान तक रुक गई वे कुछ न बात सके। वे चमर ढोरते हुये टक टकी लगाकर भगवान के रूप का अमृत पान करने लगे। और सारे दर्शक उनकी इस क्रिया को बड़े गौर से देखने लगे। उन्हें चमर नीचे ऊँचे करते यही प्रतीत कर लिया कि जो भगवान को शुद्ध स्वच्छ मन से नमन करते हैं। उनकी उर्द्ध गति होती है।

गुरुदेव कहते हैं कि शुद्ध के वृक्ष से झड़ते हुये फूलों के समान सुन्दर, स्वच्छ चमर भगवान पर ढोरते हुये ऐसा मालूम होता है कि सुमेरु पर्वत के उभरे हुये भाग के दोनों ओर चन्द्रमा की कान्ति के समान स्वच्छ निर्मल झरना ही हैं॥३०॥

> छत्रत्रयं तव विभाति शशाङ्ककान्त
> मुच्चैः स्थितं स्थगितभानुकरप्रतापम्।
> मुक्ताफलप्रकरजालविवृद्धशोभं
> प्रख्यापयत्त्रिजगतः परमेश्वरत्वम्॥३१॥

अन्वयार्थ—हे नाथ (शशाङ्ककान्तम्) चन्द्रमा के समान ... (उच्चैः स्थितं) ऊपर ठहरे हुये, तथा (स्थगितभानुकर ...) ... किया है सूर्य की किरणों का प्रताप जिन्होंने और ... जाल विवृद्ध शोभम्) मोतियों के समूह की रचना से ... जिनकी ऐसे (तव) आपके (छत्रत्रय) तीन ...) तीन जगत का (परमेश्वरत्वम्) परम ईश्वर ...) प्रगट करते हुए (विभाति) शोभित होते

श्री शोभारामजी —

उदित रहत छत्र तीन यो विराजमान,
उपमा अनेक दग देखे उमगति हैं।
उज्वल प्रकाश चन्द्र मंडल तें अति ज्योति,
सक्ती न होत कहिवे का तुच्छ मति हैं॥
जिनकी प्रभा तैं रवि किरन रुकति अति,
मोतिन की माल जाल उज्वल दिपति हैं।
प्रभुता प्रगट परकासत यो भासत हैं,
देव अरहंत जिन त्रिभुवन पति हैं॥३१॥

श्री हेमराजजी —

ऊँचे रहे सूर दुति लोप, तीन छत्र तुम दिपैं अगोप।
तीन लोक की प्रभुता कहैं, मोती झालर सों छवि लहैं॥३१॥

श्री नाथूराम प्रेमीजी —

शशि समान रमनीय प्रखर रवि ताप निवारन हारो।
मुक्तन की मंजुल रचना सो अतिशय शोभा धारो॥
तीन छत्र ऊँचे तुव सिर पर हैं निरंतर मन भावैं।
तीन जगत का परमेश्वरता वे मानो प्रगटावैं॥३१॥

श्री गिरधरजी —

मोती मनोहर लगे जिसमें सुहाते,
नीके हिमांशु सम सूरज ताप हारी।
हैं तीन छत्र सिर पैं अति रम्य तेरे,
जो तीन लोक परमेश्वरता बताते॥३१॥

श्री कमलकुमारजी —

चन्द्र प्रभा सम झल्लरियों से,
मणि मुक्ता मय अति कमनीय।
दीप्तिमान शोभित होते हैं,
सिर पर छत्र त्रय भवदीय॥
ऊपर रह कर सूर्य रश्मि का,
रोक रहे हैं प्रखर प्रताप।
मानों वे घोषित करते हैं,
त्रिभुवन के परमेश्वर आप॥३१॥

श्री नथमलजी —

उज्वल चन्द्र समान छत्र तुम पर सो हैं।
ऊँचे रहते सदीव भानु द्युति लोप तजे हैं॥
मुक्ता फल की लसत झालरी अति छविकारी।
तीन लोक की प्रगट करत प्रभुता सुखकारी॥३१॥

भावार्थ—लोक के प्रतिनिधि इन्द्रादिक देव भगवान के सिंहासन को नहीं पा सके और उनके मुँह से एक शब्द भी नहीं निकला। तब पृथ्वी माता विचार करती है कि अरूपी आकाश सर्वत्र व्यापक है। धम अधर्म द्रव्य एक एक अखंड अनंतकाल से जैसे के तैसे बने हुए हैं, और बने रहेंगे। विश्व में अनंत बार प्रलय हुये, जल प्राप्त हुये, भैंगज हुये, और होते रहेंगे। किन्तु अरूपी पदार्थ पर इनका कोई असर नहीं होता है। सत् स्वरूप में बदलाव नहीं होता है। वैसे ही जब आत्मा अपने स्वभाव में स्थिर हो गई है, तो वैभाविक प्राणी पराधीन प्राणी के आगे क्या बोल सकता है। यह कर्म वर्गणायें अपने मद में सदा मस्त रहती हैं। जड़ होकर भी चेतन को नचाती हैं। आज इस स्वाधीन

आत्मा के सामने निर्मद होकर दीन, हीन, भिखारी के रूप में शुद्ध आत्मा का मुह ताक रहा है।

पृथ्वी माता ने कौतुकवश कर्म, नोकर्म, भावकर्म से पूछा कि कैसे उदास हो रहे हो। किस रंज में हो ? क्या विचार करते हो ? तुम्हारी दशा ऐसी कैसे हो गई है ?

कर्म वर्गणाओं ने कहा कि जिस प्राणी को हम अनंत काल से बराबर सहायता करते आ रहे हैं। उसी ने आज हमें घी में से मक्खी के जैसे निकाल बाहर फेंक दिया। पृथ्वी माता ने पूछा कि तुमने इनकी क्या सहायता की और तुम्हें क्यों निकाल दिया ?

कर्म वर्गणाओं ने कहा यह जीव निगोद राशि में अनंत काल से पड़ा हुआ था। हमने इसको पूरी पूरी मदद कर वहाँ से निकाला। तीन लोक में सर्वत्र इसे घुमाया। सारी पर्यायों के, अनुभव, रस पान कराये। देव पर्याय के दिव्य भोग भोगने का अवसर दिया। मनुष्य पर्याय हम ही ने अनंतों बार दिलाई है। आज यह हमारे सारे उपकारों को सर्वथा भूल गया है। इसी से हम उदास हैं। अब हम यह विचार कर रहे हैं कि किस तरह से इस आत्मा को फिर से पकड़ें। हमने सारे प्रयत्न कर लिये हैं। यह पाषाणवत् निश्चल हो गई है। मोहराजा रण संग्राम में अकेला इससे भूझता रहा। किसी ने उसका साथ नहीं दिया। ज्ञानावर्णी, दर्शनावर्णी और अंतराय जब तक साथ देते रहे, तब तक आत्मा कुछ न कर सकी। किन्तु आपस में फूट तथा असहायता से मोह राज का सर्वथा नाश हो गया। मोह को जाते देख हम तीनों को भी आत्मा ने क्षण भर में भगा दिया।

'बीती ताहि बिसारिए, आगे की सुधि लेय' इस नीति के अनुसार हमने यह विचार किया है, कि जब आत्मा शरीर को छोड़ उर्द्ध गति जाय, हम तीनों एक साथ उनके लिपट जाँय। यह शरीर न छोड़े तब तक इनके मस्तक पर रास्ता रोक कर खड़े हुये हैं।

नो कर्म न छत्र का रूप बनाया, द्रव्य कर्मा ने मोती का और भाव कर्म ने मोती की झालर मय रचना की है। तीनों एकत्र हो, तीन छत्र का रूप धनकर मस्तक पर आ डटे। जनता को सूक्ष्म रूप से समझा दिया कि हमने जन्म जन्मान्तर से सेवा की है। अब यह ऐसे स्थान में जा रहे हैं कि जहाँ से वापिस न आवेंगे। अतः शीत उष्णता, ताप, वर्षा से बचाने के लिये हमने तीन छत्र का रूप धारण किया है।

गुरुदेव कहते हैं कि चन्द्रमा की कान्ति के समान स्वच्छ निर्मल सूर्य के ताप का दूर करने वाले मोतियों की झालर से वेष्टित तीन छत्र तीन जगत के ईश्वर पने को दिखाते हुये अत्यन्त शोभा दे रहे हैं ॥३१॥

गम्भीरतारखपूरितदिग्विभाग
स्त्रैलोक्यलोकशुभसंगमभूतिदक्षः ।
सद्धर्मराजजयघोषणघोषकः सन्
खे दुन्दुभिर्ध्वनति ते यशसः प्रवादी ॥३२॥

अन्वयार्थ —हे जिनेन्द्र ! (गम्भीर तार रवपूरित दिग्विभाग) गम्भीर तथा ऊँचे शब्दों से दिशाओं को पूरित करने वाला (त्रैलोक्य लोक शुभ संगम भूति दक्ष) तीन लोक के लोगों को शुभ समागम की विभूति देने में चतुर ऐसा और (ते) आपके (यशसः) यश का (प्रवादी) कहने वाला, प्रगट करने वाला (दुन्दुभि) दुन्दुभि (खे) आकाश में (सद्धर्म राज जय घोषण घोषक सन्) सद्धर्मराज की अर्थात् तीर्थंकर देव की जय घोषणा को प्रगट करता हुआ (ध्वनति) गमन करता है ॥३२॥

श्री शोभारामजी —

मधुर मधुर ध्वनि उन्नत गम्भीर रव,
बाजत विविध भांति दुंदुभी अपार है।

श्री नथमलजी —

वाजत अति गमीर दुन्दभी गगन मझारा ।
ध्वनि करि पूरित कियो दिशिन को भाग अपारा ॥
शुभ सगम त्रय लोक करन मे परम प्रवीने ।
कियो करत जय शब्द, तुम्हारे गुण करि भीने ॥३२॥

भावार्थ —पृथ्वी माता ने मोह सम्राट की पराजय कर्मों के द्वारा सुनी। वह जानती थी कि आत्मा की अनत शक्ति को कुचलने की सामर्थ्य किसी म भी नही है। त्रिलोकाकार अरूपी आत्मा ने सारे पुद्गल द्रव्य को ही अपने पेट में रख लिया ह। एक अणु भी बाहर नहीं छोड़ा है। उनकी सारी वर्त्तमान करतूत ही नहीं, भूत, भविष्यत् तक उनसे छिपी नहो है। उनका (पुद्गलों) यह भ्रम है कि यह छोटा सा शरीर ह और हम तीन लोक म सवत्र फैले हुए हैं। यह हमारे कारागृह से बाहर नही निकल सकता। तीन लोक के सारे प्राणी हमारे अधिकार म अनादि काल से रहते आये हैं। यह भ्रम भी कुछ समय पश्चात् अपने आप दूर हो जायगा। वह मोहराज से जय मिली। मोह राजा ने पृथ्वी माता का स्वागत किया और कहा कि मैं आपकी सहानुभूति का कृतज्ञ हूँ। मेरी अवज्ञा का दड, मैं 'ऋषभदेव' को अवश्य दूगा। जिससे साम्राज्य में शिष्टाचार बना रहे।

मोहराजा न कहा कि मेरे यहाँ तो ऐसा नियम है कि मेरे साम्राज्य में रहने वाले प्राणी तीन लोक में जी चाहे जहाँ जा सकता है। मैं उनको इच्छानुसार योग्य वाहन देता हूँ। मेरे आनुपूर्वी नाम के नौकर यही काय करते ह। मेरे भृत्य उनके लिये स्थान (शरीर) बनाते हैं। इन्द्रियाँ सदा उनक कार्य करने के लिये नियुक्त हैं। वे बडे आनन्द से भोगोपभोग कर सकत ह। वे उस घर को तोड फोड खराब करते हैं। में उनको कुछ नहा कहता और मैं उनकी मर्जी के माफिक दूसरे स्थान में भेज, वहाँ सारा प्रबन्ध कर देता हूँ। मैं धन,

दौलत, ऐश्वर्य स्त्री, पुत्र परिवार जैसा वह चाहे वैसा ही देता हूँ। पृथ्वी माता ने कहा कि मैं तो किसी ही प्राणी को सुखी नहीं देखती। सभी को दिन-रात तड़फड़ाते, चिन्तित मन चाह की दाह में सिलगते देखती हूँ। मोहराजा ने कहा हे माता! मैं आपकी शपथ पूर्वक कहता हूँ कि मेरे द्वारा उनको इच्छित पदार्थ ही दिये जाते हैं। वे उसे भूलते रहते हैं। वे दूसरों के चित्र विचित्र पदार्थ देख अपने इच्छित प्राप्य पदार्थों से घृणाकर तिरस्कृत होते हैं। यह उनकी भूल है।

पृथ्वी माता ने कहा कि ऋषभदेव ने तो आपके सारे पदार्थ छोड़ दिये। फिर वे यहाँ कैसे रह रहे हैं। मोह राजा ने कहा कि हमारे भृत्य उन्हें समझाने की चेष्टा कर रहे हैं। उनके निकट तीन लोक के उत्तमोत्तम पदार्थ रख दिये हैं, उनके आगे परम सुन्दर असंख्य देवांगनाएँ नृत्य करती हैं। वे नहीं देखते तो कुछ समय प्रतीक्षा के पश्चात् कर्मनाकर्म सारी विभूति छीनली जायगी, और उन्हें अढ़ाई द्वीप के समान एक छोटे से टापू में भेज दिया जायेगा। वहाँ उनको स्थिर विराजमान कर दिये जायेंगे। तीनलोक के भोग उपभोग करते सब प्राणियों को देखते रहेंगे। उन्हें शरीर इन्द्रियाँ आदि नहीं मिलेंगी। और न भोग सकेंगे। उनके न रूप होगा, निढाल सदा शरणरत बने रहेंगे। मैं उसकी घोषणा गधर्वों द्वारा करा रहा हूँ। वे सुन्दर-वादित्र बजा क्या कर मेरा आदेश सुनाते रहेंगे। फिर भी कोई भ्रम से दूसरी बात समझ अवज्ञा करेगा तो उसको भी यही सजा दी जायगी।

गुरुदेव कहते हैं कि अत्यन्त विशाल मधुर सुरीली ध्वनि के द्वारा व्यंजना शक्ति में करोड़ों प्रकार के वाद्य यन्त्र संसार को यह सूचना दे रहे हैं कि सत्य धर्म की विजय और मोहराज की पराजय हो गई है। आत्मा में अनंत शक्ति और अनंत सुख है। उन जिनेन्द्र भगवान् ने व्यक्त कर दिखाये हैं। यही यथार्थ स्वरूप सब आत्माओं का है ॥८२॥

मन्दारसुन्दरनमेरसुपारिजात
मन्तानकादिकुसुमोत्करवृष्टिरुद्धा ।
गन्धोदबिन्दुशुभमन्दमरुत्प्रपाता
दिव्या दिवः पतति ते वचसां ततिर्वा ॥३३॥

अन्वयार्थ — हे नाथ (गन्धोद बिन्दु शुभ मन्द मरुत्प्रपाता) गन्धोदक की बूँदों से मंगलीक और मन्द मन्द वायु के साथ पड़ने वाला (उद्धा) उत्कृष्ट और (दिव्या) दिव्य ऐसा (मन्दर सुन्दर नमेर सुपारिजात सन्तान कादि कुसुमोत्कर वृष्टि) मंदार सुन्दर नमेर सुपारिजात सन्तानक आदि कल्पवृक्षों के फूलों की वर्षा दिव आकाश से (पतति) पड़ती है। (वा) अथवा (ते) आपके (वचसा) वचनों की (तति) पंक्ती ही है।

श्री साभारामजी —

मंदार नमेरु पारिजातक सतानकादि,
सुन्दर पुहुप के समूह वरषत है।
सोभित सुगंध जल बिंदु ते मनोज्ञ मंद,
मंद पौन तें सुभार शीत परसत है॥
निर्मल गगन शुभ मंडल तें वृष्टि होत,
मन को हरति तब नैन निरखत है।
मानों एथवल खगनि की पांति आवति है,
भव्य जन अवलोक हिये हरषत है॥३३॥

श्री हेमराजजी

मंद पवन गंधोदक इष्ट, विविध कल्प तरु पहुप सुवृष्ट।
देव करैं विकसित दल सार, मानों द्विज पंकति अवतार॥३३॥

श्री नाथूराम प्रेमीजी —

गधोदक बिन्दुन सों पावन, मद पवन की प्रेरी।
पारिजात मदार आदि क नव कुसुमन की ढेरी॥
ऊरध मुख ह्वै नभ सों बरसत, दिव्य अनूप सुहाई।
मानो तुव वचनन की पगति, रूप राशि धरि छाई॥३२॥

श्री गिरधरजी —

गधोद बिन्दु युत मारुत की गिराई,
मदार आदि तरू की कुसुमावली की।
होती मनोरम महा सुरलोक से है,
वर्षा मनों तव लसे वचना वली है॥३३॥

श्री कमलकुमारजी —

कल्प वृक्ष के कुसुम मनोहर पारिजात एव मदार।
गन्धोदक की मद वृष्टि, करते हैं प्रमुदित देव उदार॥
तथा साथ ही नभ से बहती, धीमी धीमी मद पवन।
पंक्ति बाध कर बिखर रहे हों, मानों तेरे दिव्य वचन॥३३॥

श्री नथमलजी —

सतानक मदार मेरु सुन्दर सु कुसुम वर।
वर्षा होत अपार गगन तैं विकसित शुभ पर॥
चलत समीर सुगध वारि कन जुत बरसावत॥
जिंधों तुम्हारे वचन सुधा पकति दरसावत॥३३॥

भावार्थ—वाद्य यत्रों की ध्वनि तीन लोक में सवत्र फैल गई। वह घनोदधि, घनवात को पार करती हुई तनुवात में जा पहुँची। तनुवात वलय के प्राणी अपने समान, एक छोटे से प्राणी की अपूर्व

विजय सुनकर मानों सब ही हर्षित हो स्वागत करने के लिये मध्यलोक में आने का आयोजन किया।

जीवों का आदि और अन्त निवास एक ही है। आदि में जीव सूक्ष्मातिसूक्ष्म पुद्गल पिंडों में सकुचित हो, उसी में समाया हुआ रहता है। हमारे स्वस्थ्य शरीर के १८वें भाग जितने समय में हवा की गति के साथ वे पिंड ग्रहण-त्याग होते रहते हैं। बुद्धिमान इसे जन्म मरण कहते हैं। यह अवस्था जीवों की अनादिकाल से रहती आ रही है। उन्हें निगोदिया कहते हैं। और पुद्गल वर्गणाओं को जिन्होंने सर्वथा छोड दी हैं। वे अपने अन्तिम शरीर की आकृति से किंचित न्यून आकृति मे रहते हैं। उन्हे सिद्ध कहते हैं।

तनुवात वलय मे अनादिकाल से यह प्राणी रहता आ रहा है। तनुवात से मिलती जुलती घनवात है। हवा की गति से कोई प्राणी घनवात के भारी कर्म वर्गणा ले लेता है। तब उसकी चाल बिगड जाती है। और घनोदधि पार कर आगे बढ जाता है। तब इसकी लोक के समान बढनेवाला तृष्णा के अकुर उत्पन्न हो जाते हैं। यहाँ तृष्णा इन पुद्गल पिंडो का भार सहर्ष लादने को बाधित करती है। यह प्राणी पुद्गल पिंडो को ग्रहण त्याग करता हुआ इस लोक में भ्रमण करता रहता है। यही ससार है।

कोई प्राणी इस भार से दुखी होकर उसे छोडना चाहता है और उन्हे मार्ग मिल जाता है। जो वे इसे छोडते छोडते उतने से वैसे हो पिंड रह जाय तो पुन वहाँ जा सकता है। अन्यथा वहाँ से साथ लाये पुद्गल वर्गणाओं को यहाँ ही छोड अरूपी होकर वहाँ जाता है। उनकी आकृति त्यक्त शरीर से किंचित न्यून सदा शाश्वत बनी रहती है। वे जिन पुद्गल पिंडो ने उनको भ्रमाया था, वे भी उनसें समा जाते हैं। वे ससार में रहते हैं तब तक उनकी जीवन मुक्त अवस्था रहती है। उन्हें अरहन्त कहते हैं।

तनुवात यह जानकर मानो बडी प्रसन्नता से स्वागत के लिये प्रस्थान किया। घन और घनोदधि ने भी अपनी सहचारी का साथ

दिया। स्वर्गां में मदरानि वृक्षों ने झुक झुक कर प्रणाम किया और अपने चलने की आवश्यकता प्रगट की । उन्होंने अपने सुपुत्र पुष्पों को सभ्यता से बैठने की शिक्षा दे, उनके साथ कर दिया। सबों ने भगवान के समवशरण को देख अपने अपने योग्य कार्यों में रत हो गये। तनुवात सारे प्राणियों के हृदय में घुस गई । सारे प्राणियों ने उसका प्रेम से आलिंगन किया। घनवात ने अपनी तेज हवा से ताप दूर किया और धूडा कर्कट उड़ा दिया। धनोदधि ने वर्षा करते हुए भगवान् का राज्याभिषेक किया । पुष्पों ने अपनी सुगन्ध से दशों दिशाएँ व्याप्त करदी। हवा, वर्षा, गध तीनों ने मिल कर समवशरण में एक अद्भुत, आनन्ददायी वातावरण बना दिया।

गुरुदेव कहते हैं कि मद मद पवन के साथ, मद मद मघ की धारा सुगन्धित पुष्पों की सुगन्ध से मिली हुई, झरती हुई, परम हर्ष उत्पन्न कर रही है। उनके साथ मन्दार, सुन्दर, नमेरु, सुपारिजाति आदि के पुष्प आकाश से नीचे उतरते हुये सीधे, सन्मुख एसे मालूम होते हैं कि मानों आपके वचनों की पक्ति ही हैं ॥३३॥

शुम्भत्प्रभावलयभूरिविभा विभोस्ते
लोकत्रये द्युतिमतां द्युतिमाक्षिपन्ती ।
प्रोद्यद्दिवाकरनिरन्तरभूरि सग्या
दोप्त्या जयत्यपि निशामपि सोमसौम्याम् ॥३४॥

अन्वयार्थ —हे विभो ! (प्रोद्यद्दिवा कर निरतर भूरि सख्या) दैदीप्यमान सघन और अनेक संख्या वाले सूर्यों के तुल्य (तेविभो) तुम्हारे (शुम्भत् प्रभावलय भूरि विभा) शोभायमान भामडल की अतिशय प्रभा (लोकत्रयद्युति मता) तीना लोकों के प्रकाशमान पदार्थों की (द्युतिम्) द्युति को (आक्षि पन्ति) तिरस्कार करती हुई (सौम सोम्या अपि) चन्द्रमा की तरह सौम्य होने पर भी

(दीप्त्या) अपनी दीप्ति के द्वारा (निशाम् अपि) रात्रि को भी (जयति) जीतती है ॥३४॥

श्री शोभारामजी —

दिपति भामडल की महिमा अनत छवि,
परम प्रभानतें प्रकाशनत अति है।
सुर नर नाग तिहुँ लोक की विभूति अति,
ताकी ज्योति जीतिकेहूँ लग में जगति है ॥
उदित दिवाकर निरतर अनत भूरि,
कोटि कोटि रवि के समान तुम द्युति है।
निशि के सघन अधकार को विनाश करैं,
चन्द्रत अधिक ज्योति कहन सकती हैं ॥३४॥

श्री हेमराजजी —

तुम तन भामडल जिन चद,
सब द्युतिवत करत मद।
कोटि सत्य रवि तेज छिपाय,
शशि निर्मल निशि करै अछाय ॥३४॥

श्री नाथूराम प्रेमीजी —

जाकी अमित सुदुति के आगे सब दुतिवत लजावै।
अगनित उदित दिवाकर हूँ निहि समता नहीं कर पावै ॥
हे विभु ऐसो तेज पुज तुव भामडल अति नीको।
शशि सम सौम्य तऊ जीतत है दीपति से रजनी को ॥३४॥

श्री गिरधरजी —

त्रैलोक्य की सब प्रभामय वस्तु जीती,
भामडल प्रबल है तव नाथ ऐसा।

नाना प्रचड रवि तुल्य सुदीप्ति वारी,
है जीतता शशि सुशोभित रात को भी ॥३४॥

श्री कमलकुमारजी —

तीन लोक की सुन्दरता यदि, मूर्तिवत बन कर आवे ।
तन भामडल की छवि लख कर,तव सन्मुख शरमा जावे ॥
कोटि सूर्य के ही प्रताप सम, किन्तु नहीं कुछ भी आताप ।
जिसके द्वारा चन्द्र सुशीतल, होता निष्प्रभ अपने आप ॥३४॥

श्रीनथमलजी —

भामडल द्युतिवत वलय तुम तन के राजत ।
त्रिभुवन के द्युतिवत पदारथ का छवि दाबत ॥
उगते रवि का कोटि कान्ति को तेज धरतो ।
शशि हूँ तैं अति सौम्य रूप विस्तार करन्तो ॥३४॥

भावार्थ —तनुवात का अपूर्व स्वागत मात्र जीवा न किया। वह भगवान् के हृदय स्थान में भी पहुँची। जठराग्नि का भगवान न भोजन पान बन्द कर दिया था। वह अत्यन्त कुपित हो रही थी। वह भगवान के जीवन को नष्ट करना चाहती थी। किन्तु उनके शरीर म लेश मात्र भी शिथिलता तक न आई। वह अत्यन्त चिन्तित अवस्था में थी। प्रत्यक पुद्गल स्कन्ध पिंड म अग्नि का निवास है। जीवों का निवास पुद्गल पिंडों मे है। अत यह सजीव प्राणियों में भी रहती है। त्रसा के पेट म रहने वाली जठराग्नि, पानी में रहने वाली वडवाग्नि, वृक्षों में रहने वाली दावाग्नि आदि नामों से कही जाती है। तनुवात न आकर जठराग्नि को समझाया। इनका शरीर पिंड रूप म ही दीखता है। किन्तु यह पिंड नहीं है। यह प्रत्येक अणु एक दूसरे स भिन्न रूप म है। अप्रति घात है। केवल सघटन दीखता है। इनका नाश तुमसे नहीं होगा।

अत तुम्हें इस प्राणी को अधिकार में करने की आशा छोड़ अन्यत्र अपना स्थान दगना चाहिये। अग्नि चुपचाप बाहर निकल गई। उसने संसार का ढंग बदला हुआ देखा। हवा ने उसे बाहर कर दिया। वहाँ वर्षा हो रही थी। वह उसका अस्तित्व ही मिटाना चाहती थी। पुष्प सीधे ऊँचे मुख किये हँस रह थे। पृथ्वी माता अपना अनुपम श्रृङ्गार किये नव वधू सी बनी बैठी थी। लोग आनन्द में मग्न थे। समवशरण में उसकी ओर किसी ने भी नहीं देखा।

बाल सूर्य का उदय हुआ। अग्नि उदास थी। उसने अपने सहायक सूर्य से प्रार्थना की कि यहाँ सारा ढग बदल गया है। मेरा अनादर आज तक किसी ने भी संसार में नहीं किया। मेरी अवज्ञा से शरीर, रोगी, निर्बल होकर छटपटाता है। मेरी उपेक्षा स प्राण छूट जाता है। मैं समुद्र में रहती हूँ। समुद्र अपनी तृष्णा से असंख्य नदियों का पान करता रहता है। मैं उसका पान करती हूँ। जंगल में वृक्ष गण आपस में जब बुरी तरह लडते हैं तब मैं उनको भस्मकर देती हूँ। मुझे स्वय आश्चर्य है कि ऋषभदेव ने मेरा अनादर ही नहीं उपेक्षा करके बाहर निकाल दिया। तुम ऊँचे बढते आरहे हो कहीं तुम्हारी भी ऐसी दशा न हो।

सूर्य ने मस्तक के ऊपर आकर अपना ताप भभकाया। भगवान् नग्न थे। किन्तु उनके मस्तक पर तीन छत्र लगे हुये थे। उन तक ताप का अंश भी न पहुँचा। सूर्य ने स्वयम्भूरमण समुद्र के मध्य के असंख्य द्वीप समुद्र के सूर्यों के पास यह समाचार पहुँचाये। सब ही सूर्य एकत्र हुये। उन्होंने विचार कियाकि सब मिलकर तो इस छोटे से क्षेत्र में चल नहीं सकते। अपन सब मिल कर अपनी दिव्य शक्ति का एक गोला बनावें और वह गोला भगवान पर भेजा जाय। इस प्रकार असंख्य सूर्यों की ज्योति के गोले का आविष्कार हुआ। और फिर वह भगवान् की ओर रवाना हो गया।

इस अद्भुत तेजोमय गोले को आते देख असंख्य देव-देवियाँ मनुष्य, पशु मानों भयभीत होकर जै जै कार करते हुये भगवान को

चारों ओर से घेर लिया। गोला जैसे जैसे नीचे उतरा वैसे वैसे उसकी ताप शक्ति ही क्षीण होती गई। भगवान् के पास आते ही अति शीतल, ज्योतवान, परमतनामय और अल्हादकारी बनकर शरम के मारे भगवान के पीछे स्थित हो गया।

गुरुदेव कहते हैं कि अनेक सूर्यों की दीप्ति से अधिक चन्द्रमा की कान्ति से अत्यन्त, ज्योतकारी, शीतल आपका प्रभामंडल तीनलोक के दीप्ति मान, प्रकाशवान पदार्थों को तिरस्कार करने वाला महा शोभायमान रात्रि दिन के भेद को सर्वथा दूर करता है ॥३४॥

स्वर्गापवर्गगममार्गविमार्गणेष्ट.,
सद्धर्मतत्त्वकथनैकपटुस्त्रिलोक्या ।
दिव्यध्वनिर्भवति ते विशदार्थसर्व,
भाषास्वभावपरिणामगुणैं प्रयोज्य. ॥३५॥

अन्वयार्थ—हे जिन देव ! (स्वर्गापवर्ग गम मार्ग विमार्गणेष्ट) स्वर्ग और मोक्ष जाने के मार्ग को अन्वेषण करने में इष्ट (आवश्यक) अथवा स्वर्ग-मोक्ष मार्ग को शोधने वाले मुनियों को इष्ट तथा (त्रैलोक्य) तीन लोक के (सद्धर्म तत्त्व कथनैक पटु) समीचीन धर्म के तत्त्वों के कहने में चतुर और (विशदार्थ सर्व भाषा स्वभाव परिणाम गुणैं) निर्मल जो अर्थ और उनके समस्त भाषाओं के परिणमन रूप जो गुण उन गुणों से (प्रयोज्य) जिसकी योजना होती है। ऐसी (ते) आपकी (दिव्य ध्वनि) दिव्य ध्वनि (भवति) होती है ॥३५॥

श्री शोभारामजी —

नाथ तुम्हारी दिव्य ध्वनि के प्रगट होत,
भक्तिवंत भव्यनि को अति सुखदाई हैं ।
सुरग मुकति शुभ मारग गमन हित,
सम्यक् दरश ज्ञान चरण सहाई हैं ॥

अत तुम्हें इस प्राणी को अधिकार में करने की आशा छोड़ अन्यत्र अपना स्थान देखना चाहिये। अग्नि चुपचाप बाहर निकल गई। उसने संसार का ढंग बदला हुआ देखा। हवा ने उसे बाहर कर दिया। वहाँ वर्षा हो रही थी। वह उसका अस्तित्व ही मिटाना चाहती थी। पुष्प सीधे ऊँचे मुख किये हँस रह थे। पृथ्वी माता अपना अनुपम शृङ्गार किये नव वधू सी बनी बैठी थी। लोग आनन्द म मग्न थे। समवशरण में उसकी ओर किसी ने भी नहीं देखा।

बाल सूर्य का उदय हुआ। अग्नि उदास थी। उसने अपने सहायक सूर्य से प्रार्थना की कि यहाँ सारा ढग बदल गया है। मेरा अनादर आज तक किसी ने भी संसार म नहीं किया। मेरी अवज्ञा से शरीर, रोगी, निर्बल होकर छटपटाता है। मेरी उपेक्षा से प्राण छूट जाता है। मैं समुद्र में रहती हूँ। समुद्र अपनी तृष्णा से असरव्य नदियों का पान करता रहता है। मैं उसका पान करती हूँ। जगल में वृक्ष गण आपस म जब बुरी तरह लड़ते हैं तब मैं उनको भस्मकर देती हूँ। मुझे स्वय आश्चर्य है कि ऋषभदेव ने मेरा अनादर ही नहीं उपेक्षा करके बाहर निकाल दिया। तुम ऊँचे बढ़ते आरहे हो कही तुम्हारी भी ऐसी दशा न हो।

सूर्य ने मस्तक के ऊपर आकर अपना ताप भभकाया। भगवान् नग्न थे। किन्तु उनके मस्तक पर तीन छत्र लगे हुये थे। उन तक ताप का अश भी न पहुँचा। सूर्य ने स्वयभूरमण समुद्र के मध्य के असख्य द्वीप समुद्र के सूर्यों क पास यह समाचार पहुँचाये। सब ही सूर्य एकत्र हुये। उन्होने विचार कियाकि सब मिलकर तो इस छोटे से क्षेत्र में चल नही सकते। अपन सब मिल कर अपनी दिव्य शक्ति का एक गोला बनावें और वह गोला भगवान पर भेजा जाय। इस प्रकार असरव्य सूर्यो की ज्योति के गोले का आविष्कार हुआ। और फिर वह भगवान् की ओर रवाना हो गया।

इस अद्भुत तेजोमय गोले को आते देख असंख्य देव देवियाँ मनुष्य, पशु मानों भयभीत होकर जै जै कार करते हुये भगवान को

चारों ओर से घेर लिया। गोला जैसे जैसे नीचे उतरा वैसे वैसे उसकी ताप शक्ति ही क्षीण होती गई। भगवान के पास आते ही अति शीतल, ज्योतवान, परमानन्दमय और अल्हादकारी बनकर शरम के मारे भगवान के पीछे स्थित हो गया।

गुरुदेव कहते हैं कि अनेक सूर्यों की दीप्ति से अधिक चन्द्रमा की कान्ति से अत्यन्त, उद्योतकारी शीतल आपका प्रभामंडल तीनलोक के दीप्ति मान, प्रकाशवान पदार्थों का तिरस्कार करने वाला महा शोभायमान रात्रि दिन के भेद को सर्वथा दूर करता है ॥३४॥

स्वर्गापवर्गगममार्गविमार्गणेष्टः,
सद्धर्मतत्त्वकथनैकपटुस्त्रिलोक्याः ।
दिव्यध्वनिर्भवति ते विशदार्थसर्व,
भाषास्वभावपरिणामगुणैः प्रयोज्यः ॥३५॥

अन्वयार्थ—हे जिन देव ! (स्वर्गापवर्ग गम मार्ग विमार्गणेष्ट) स्वर्ग और मोक्ष जाने के मार्ग का अन्वेषण करने में इष्ट (आवश्यक) अथवा स्वर्ग-मोक्ष मार्ग को शोधने वाले मुनियों को इष्ट तथा (त्रैलोक्य) तीन लोक के (सद्धर्म तत्त्व कथनैक पटु) समीचीन धर्म के तत्त्वों के कहने में चतुर और (विशदार्थ सर्व भाषा स्वभाव परिणाम गुणैः) निर्मल जो अर्थ और उनके समस्त भाषाओं के परिणमन रूप जो गुण उन गुणों से (प्रयोज्य) जिसकी योजना होती है। ऐसी (ते) आपकी (दिव्य ध्वनि) दिव्य ध्वनि (भवति) होती है ॥३५॥

श्री शोभारामजी —

नाथ तुम्हारी दिव्य ध्वनि के प्रगट होत,
भक्तिवंत भव्यनि को अति सुखदाई है ।
सुरग सुकति शुभ मारग गमन हित,
सम्यक् दरश ज्ञान चरण सहाई है ॥

उन्नत धरम तिहूँ लोकनि के जीव जहाँ,
हित उपदेश कहिबे को अधिकाई है ।
प्रगट अरथ सब भाषा के स्वभाव गुण,
सुभग सुलक्षण अनेक नय गाई है ॥३५॥

श्री हेमराजजी —
स्वर्ग मोक्ष मारग संकेत, परम धर्म उपदेश न हेत ।
दिव्य वचन तुम खिरें अगाध, सब भाषा गर्भित हित साध ॥३५॥

श्री नाथूराम प्रेमीजी —
स्वर्ग और अपवर्ग मार्ग की वाट बतावन हारी ।
परम धरम के तत्त्व कहने को चतुर त्रिलोक मँझारी ॥
होय जगत की सब भाषनि मे, जो परिनत सुखदानी ।
ऐसी विशद अर्थ की जननी, है जिनवर तुव वाणी ॥३५॥

श्री गिरधरजी —
है स्वर्ग मोक्ष पथ दर्शन की सुनेता,
सद्धर्म के कथन में पटु है जगों के ।
दिव्य ध्वनि प्रकट अर्थ मयी प्रभो है,
तेरी लहे सकल मानव बोध जिस्सें ॥३५॥

श्री कमलकुमारजी —
मोक्ष स्वर्ग के मार्ग प्रदर्शक, प्रभुवर तेरे दिव्य वचन ।
करा रहे हैं सत्य धर्म क अमर तत्त्व का दिग्दर्शन ॥
सुनकर जग के जीव वस्तुत, कर लेते अपना उद्धार ।
इम प्रकार परिवर्तित होते, निज निज भाषा के अनुसार ॥३५॥

श्री नयमलजी —

जिन तन तें ध्वनि निकम, मोक्ष मारग लों धाई।
स्वर्ग मोक्ष के हेत सरलता तातें आई॥
परम धरम उपदेश करन कूं हैं परवीनी।
गर्भित भाषा सकल अर्थ निर्मल जुत भीनी॥३५॥

भावार्थ —तीन लोक के प्राणी वाद्ययन्त्रों की ध्वनि सुनकर भगवान की परम ज्योतिर्मय दिव्य स्वरूप के दर्शन को आ गये। तनुवात पृथ्वी, अप, तेज, और वनस्पति तक समवशरण में उपस्थित है। असंख्य देव, देवी, मनुष्य, पशु सब अपने अपने स्थान में उपदेश आदेश सुनने के लिये लालायित हैं। जीव मात्र योनिवत् वैर को भी भूल गये हैं। सिंहनी, हिरनी के बच्चे को प्यार कर रही है, और गाय सिंह के बच्चे को। मात्र प्राणी दुख से छुटकारा चाहते हैं। समवशरण में आये हुए प्राणी टकटकी लगा कर वचनामृत पान करने के लिये बड़े ही उत्सुक हो रहे हैं।

भगवान् पापाणवत् अचल सिंहासन पर भी अधर विराजमान दीखते हैं। उनका शरीर इन्द्रियाँ जडवत् निश्चल हैं। समवशरण में एक मधुर ध्वनि भगवान के सिंहासन की तरफ से आ रही है। वह कानों में गिरते ही मात्र जीव परम उल्लासित हो आनन्द में मग्न हो रहे हैं। समवशरण में अनेक देश के मनुष्य हैं। जो एक दूसरे की भाषा को नहीं समझते। अनेक पशु हैं, उन्हें भाषा का ज्ञान तक नहीं, वे भी उस मधुर ध्वनि से शब्द, अर्थ, भाव समझ परम हर्षित हो रहे हैं।

भगवान् अरूपी, अखण्ड, तेजोमय, निर्विकार हैं। ध्वनि रूपी पुद्गलों के मथन से स्वरयन्त्रों के द्वारा बनती है। दोनों में सम्बन्ध होने से वाक्य बनते हैं। यहाँ दोनों में सम्बन्ध नहीं है। बिना सम्बन्ध के ध्वनि का होना एक अद्भुत वस्तु मालूम होती है।

तीर्थंकर प्रकृति का बन्ध केवली, श्रुत केवली के सामने उत्कृष्ट

परम शुद्ध, निष्काम राग भावों से होता है। यदि जीव मात्र के प्रति उत्कृष्ट राग न हो, ऐसा ध्यान निर्विकार होता तो उसी समय सर्व कर्म नष्ट हो जाते। किन्तु वहाँ तो मात्र जीवों को मोक्ष में पहुँचाने के भाव हैं। ऐसी अवस्था के बंध का उदय जब आत्मा की अनंत शक्ति, अनंत ज्ञानादि प्रगट हो जाते हैं, तब तेरहवे गुणस्थान में होता है। आत्मा अपने स्वभाव में लीन है। कर्म वर्गणाये जो बंध में थी, वह मानों आत्मा से कहती है कि अब तो आप में अनंत शक्ति है। आप पूर्व जन्म में केवली भगवान् से कह रहे थे, कि मैं आपका जैसा होता तो सब जीवों को मोक्ष में ले जाता। तब फिर अब क्यों नही ले जाते। किन्तु वे अपने स्वभाव में लीन हैं, तब उन वर्गणा की समय समय प्रति उदय होती रहती है।

"मन एव मनुष्याणां कारणं बंध मोक्षयो" समवशरण में मन के विकारी वर्गणाओं के उदय के ज्ञाता, मन पर्यय ज्ञानी महर्षि अपने मन से भगवान् की मनोवर्गणा को टकराते हैं। उस संघर्ष से अत्यन्त सूक्ष्म ध्वनि होती है। इन्द्रों के पास लाउडस्पीकर आदि यंत्रों से अत्यन्त उच्चकोटि का यंत्र है। उसके द्वारा उस ध्वनि को विशाल बनाते हैं। वह ध्वनि सर्वांग से निकल सब जीवों के मनोरथ पूर्ण करती है। बिना गणधरों के ध्वनि नहीं होती। और बिना देवों के यह श्रवण योग्य नहीं होती।

गुरुदेव कहते हैं कि सत्य धर्म का स्वरूप पुद्गलों द्वारा कहने का उत्कृष्ट मार्ग केवल यही ध्वनि है। इससे संसार के प्राणी मात्र अपनी अपनी भाषा में सब समझ लेते हैं। यही दिव्य ध्वनि सब प्रकार के इच्छित भावों का समाधान और स्वर्ग तथा मोक्ष मार्ग प्रगट करती है ॥३५॥

उन्निद्रहेमनवपङ्कजपुञ्जकान्ती,
पर्युल्लसन्नखमयूखशिखाभिरामौ ।
पादौ पदानि तव यत्र जिनेन्द्र धत्त,
पद्मानि तत्र विबुधा परिकल्पयन्ति ॥३६॥

अन्वयार्थ —(जिनेन्द्र) हे जिनेद्र (उन्निद्र हेम नव पंकज पुंज कान्ति) फूले हुये स्वर्ण वर्ण नवीन कमल समूह के सदृश कान्ति धारण करने वाले (पर्युल्लसन्नखमयूख शिखाभिरामौ) चारों ओर उछलती हुई नखो की किरणा के समूह करके सुन्दर ऐसे (तव) आपके (पादौ) चरण (पत्र) जहाँ पर (पदानि) डग (धित्त) रखते हैं (तत्र) वहाँ पर (विबुधा) देवगण (पद्मानि) कमलों को (परिकल्पयन्ति) परिकल्पित करते हैं अर्थात् कमलों की रचना करते हैं। ॥३६॥

श्री शोभारामजी —

जिन भगवान तुव कोमल चरन युग,
धरत जहाँ जहाँ सुथान शुभ सचिकै।
नव नव पंकज पहुप सुवरन मय,
तहाँ तहाँ थानक सुदेव धरैं रचिकै॥
शोभित किरन जनु उज्वल रतन छवि,
शोभा अभिराम कोटि काम रूप लचिकै।
नख जिनराज पाय भव्य जन को सहाय,
वन्दन करत भव दुख जाय मुचिकै॥३६॥

श्री हेमराजजी —

विकसित सुवरन कमल द्युति, नख द्युति मिलि चमकाहि।
तुम पद पदवी जहँ धरो, तहँ सुर कमल रचाहिं॥३६॥

श्री नाथूराम प्रेमीजी —

सुवरन वरन खिले कमलन की,
ललित कान्ति जो धारैं।
त्योंही नख किरनन की चहुँधा,
छटा अनूप उछारैं॥

अस तुन चरनन की डग जहँ जहँ,
परत अहो जिनराई।
तहँ तहँ पङ्कज पुंज अनुपम,
रचत देवगन आई ॥३६॥

श्री गिरधरजी —

फूले हुये कनक के नव पद्म के से,
शोभायमान नख की किरण प्रभा मे।
तूने जहाँ पग धरे अपने विभो हैं,
नीके वहाँ विबुध पङ्कज कल्पते हैं ॥३६॥

श्री कमलकुमारजी —

जगमगात नख जिसमें शोभे,
जैसे नभ म चन्द्र किरण।
विकसित नूतन सर सिरूह सम,
हे प्रभु! तेरे विमल चरण॥
रखते जहाँ वही रचते हैं,
स्वर्ण कमल सुर दिव्य ललाम।
अभिनंदन के योग्य चरन तव,
भक्ति रहे उनमे अभिराम ॥३६॥

श्री नयमलजी—

विकसित सुवरन कमल पुंज सुन्दर द्युति धारैं।
नख द्युति मिलि चमकत विपुल शोभा विस्तारैं॥
चरण युगल जहँ धरो अहो त्रिभुवन के राई।
तहाँ रचैं सुर कमल मनोहर अति सुखदाई ॥३६॥

भावार्थ—परम हर्ष से उल्लासित समवशरण के प्राणी दिव्यध्वनि सुन कर मस्त हो जाते हैं। दिव्यध्वनि सुबह, मध्याह्न, सायंकाल और मध्य रात्रि इस तरह दिन में चार बार होती है। हमारी दृष्टिकोण से। हमने दिन रात के भेद कहे हैं। किन्तु वहाँ तो सदा ही प्रकाश रहता है। वहाँ दिन रात जैसी वस्तु दिखाई नहीं देती। भगवान की वचन वर्गणा का उदय नदी के असह प्रवाह के जैसे बहती रहती है।

प्रत्येक देश के प्राणी इस अनुपम लाभ को प्राप्त कर अपने देश वासियों के कल्याण के लिये भगवान् से अपने अपने देश में पधारने की प्रार्थना करते हैं। और अपने अपने देश में आकर यह शुभ संवाद अपने देश वासियों को सुनाते हैं। देश देश की जनता यह शुभ संवाद सुन दर्शनों को आती है। और सब ही भगवान् को अपने देश में ले जाने के लिये उत्कृष्ट भाव लगाते हैं। छोटे-बड़े बच्चे स्त्रियाँ, वृद्ध, अशक्त, रोगी अपने स्थान में बैठे बैठे भगवान् के पधारने के लिये सदा भावना भाया करते हैं।

भगवान् के पुद्गल पिंड का जिस जिस स्थान से बन्ध पड़ा था और जिस स्थान में उदय विपाक का उदय है, उस स्थान में ले जाने के भाव इन्द्रादि देवों के स्वयमेव हो जाते हैं। और वह क्षण मात्र में उस स्थान का प्रस्थान कर देते हैं किंतु अपनी अद्भुत शक्ति द्वारा वे भगवान् का विहार बताते हैं। वे भगवान् डग के नीचे कमलों की रचना करते हैं। सात सात कमलों की सात लाइन बिछाते रहते हैं। भगवान् का डग मध्य के कमल पर होता है। डग भरते ही पीछे के तीन कमलों की पत्तियाँ सिमट कर आगे आ जाती हैं और इस प्रकार प्रत्येक डग के चारों ओर छ छ कमल ही दीखते हैं। जिसका अर्थ यह है—

मन रूपी कमल में सदा भगवान् को देखो। सात तत्त्वों का मनन करो। जीव, अजीव, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा और मोक्ष यही संसार के दुखों से छुड़ाने का उपाय है। जीव की

वैभाविक अवस्था ससार है वैभाविक अवस्था में पुद्गलो की प्रधानता है । पुद्गल पिंड सदा पुद्गल पिंडों के पास आते हैं । विकारी आत्मा उन्हे अपना हितू समझ अपनाता है। जब अपने स्वरूप को समझता है तो उन्हें रोकता है। और बँधे हुये कर्मों को दूर करता है। सब कर्मों के दूर होने पर शुद्ध अवस्था (मोक्ष) हो जाती है।

तुम कुछ भी विचार करो । चाहे जिस अवस्था में रहो किंतु आत्मा के साथ कर्मों का बन्ध मत होने दो । तुम अपने हृदय कमल के मध्य बन्ध स्थान पर परम पूज्य भट्टारक त्रिलोकी नाथ के चरण स्थापित करलो । भगवान् के चरण आगे बढे तो तुम अपने चचलमन को आगे बढ़ाकर उनके चरण कमल में लय हो जाओ । इस प्रकार मन को लगाने से अपने आप भगवान बन जाओगे ।

गुरुदेव कहते हैं कि महा सुन्दर, सुवरण, कमल, मन के सदृश खिले हुवा को रचना देवगण आपके विहार में बताते हैं। वे कमल सात सात की सख्या में ४६ दीखते हैं । जिनके मध्य आपके डग पडते ही आपके नख रूपी सूर्यों की प्रभा उन पर पड़ती है। वे अत्यन्त परम सुन्दर अत्यन्त सोभायमान मालूम पड़ते हैं ॥३६॥

इत्थ यथा तव विभूतिरभूज्जिनेन्द्र,
धर्मोपदेशनविधौ न तथा परस्य ।
यादृक्प्रभा दिनकृत' प्रहतान्धकारा,
तादृक्कुतो ग्रहगणस्य विकाशिनोऽपि ॥३७॥

अन्वयार्थ —(जिनेन्द्र) हे जिनेन्द्र (धर्मोपदेशन विधौ) धर्मोपदेश की विधि में अर्थात् धर्म का उपदेश देते समय समवशरण में (इत्थ) पूर्वोक्त प्रकार से (तव) आपकी (विभूति) समृद्धि (यथा) जैसी (अभूत्) हुई (तथा) वैसी (परस्य) हरि हरादि

दूसरे देवों के (न) नहीं हुई सो ठीक ही है। (दिनकृत) सूर्य की (यादृक्) जैसी (प्रहतान्धकारा) अन्धकार को नष्ट करने वाली (प्रभा) प्रभा होती है (तादृक) वैसी प्रभा (विकाशिन) प्रकाशमान (ग्रहगणस्य अपि) तारागणों की भी (कुत) कहाँ से होवे ॥३७॥

श्री शोभारामजी —

गणधर द्वारा ध्वनि होत विधि पूर्वक,
कैसी है तुम्हारी विधि धर्म उपदेश की ।
तैसी विधि होन को हरि हरादि आनदेव,
हारे पचि तोउ न भई प्रबोध लेश की ॥
जैसे अन्धकार हरिवे को परगट भई,
किरन देदिप्यमान उदित दिनेश की ।
तैसी न कदाचि होत तारागण मडल की,
जदपि प्रकाशवत दीपति प्रदेश की ॥३७॥

श्री हेमराज जी —

ऐसी महिमा तुम विषै, और धरै नहीं कोय ।
सूरज में जो जोत है, नहि तारागण होय ॥३७॥

श्री नाथूराम प्रेमीजी —

इहि विधि वृष उपदेश समय तुव, समवशरण के माहीं ।
भई विभूति अपूरव ह जिन, सो औरन के नाहीं ॥
जैसी प्रभा देखियतु रवि म, तेजवती तम हारी ।
तैसी उडगण माहि कहा द्युति, जदपि प्रकाशन वारी ॥३७॥

श्री गिरधरजी —

तेरी विभूति इस भाति जिसो हुई जो,
सो [illegible] कथन मे न हुई किसी की ।

होत प्रकाशित परन्तु तमिस्र हर्ता,
होता न तेज रवि तुल्य कहीं ग्रहों का ॥३७॥

श्री कमलकुमार जी —

धर्म देशना के विधान में, था जिनवर का जो ऐश्वर्य।
वैसा क्या कुछ अन्य कु देवों में भी दिखाता है सौन्दर्य॥
जो छवि घोर तिमिर के नाशक रवि में है देखी जाती।
वैसी ही क्या अतुल कान्ति, नक्षत्रों में लेखी जाती ॥३७॥

श्री नथमलजी —

प्राति हार्य आदिक विभूति जो तुम ढिग पाई।
ऐसी महिमा अन्य देव के प्रभु नाहिं लखाई॥
जो प्रकाश रवि धरत महातम को क्षय कारी।
सो तारागण विर्षे कहाँ पइये द्युति भारी ॥३७॥

भावार्थ —सातों तत्त्वों को भले प्रकार जानकर दृढ़ श्रद्धा करना सम्यक् दर्शन है। आत्मा पर पदार्थ को अपनावे यह बन्ध तत्व है। कर्म अरूपी आत्मा के निज स्वरूप को छिपा, पर पौद्गलिक पदार्थों के संयोग की कल्पना से मन को चंचल बनाये रखता है। उस मन पर आपके चरण स्थापित कर आपने शुद्ध स्वरूप का अनुभव निजस्वरूप का प्रतीक है।

अनादि काल से यह जीव तैजस, कार्माण का सूक्ष्म पिंड लिये औदारिक सूक्ष्म शरीर से तीनों लोकों के ३४३ राजू क्षेत्र में निरंतर घूमता रहा, तीनों लोकों में तैजस, कार्माण, औदारिक आदि वर्गणायें सर्वत्र भरी पड़ी हैं। यह हमारे श्वास लेते समय में उन वर्गणाओं को कई बार नूतन ग्रहण करके पुरातन को छोड़ता रहा। ३४३ राजू लोक में १४ राजू क्षेत्र ऐसा है, जहाँ इसके ग्रहण योग्य सूक्ष्म वर्गणाओं के अतिरिक्त स्थूल वर्गणायें भी हैं। जब जीव ने स्थूल वर्गणायें ग्रहण करली, तब ही से यह १४ राजू त्रस नाली में कैद होगया। और

इसकी गणना व्यवहार राशि में हो गई और इसका सर्वत्र लोक में घूमना बन्द हो गया।

त्रस नाली में कैद हुये पश्चात् यह अनन्त प्रकार की वर्गणाओंसे सम्बन्ध होने लगा। बड़े २ वृक्ष पहाड़ बनने योग्य वर्गणाओंको इसने अपनाया। तब तक एक शरीर इन्द्री ही रही। इन पर्यायों में घूमता घूमता किसी समय जिह्वा इन्द्री बन गई। जब से स्थावर से इसकी त्रस संज्ञा बन गई। इस अवस्था से उन्नत होते होते सैनी पंचेन्द्री पशु तक अवस्था को प्राप्त करली। यहाँ यह जीव अपने से निर्बल जीवों का घात करते करते नरकायु का बन्ध किया। यहाँ औदारिक से वैक्रियिक वर्गणायें प्राप्त की। जो मारण-तारण छेदन भेदन होने पर भी पारे के समान फिर एक रूप हो जाती है। उन दुखों से पश्चाताप करता हुआ फिर मनुष्य पर्याय में आया। कभी शुभोपयोग से देव पर्याय धारण करी। इस प्रकार चारों गतियों में भ्रमण करता रहा।

काल लब्धि आते ही अपने स्वरूप को पहिचाना। और कर्म वर्गणायें जो ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य पर आच्छादित हो रही थी, उनको अपने से भिन्न जान हटाने का निश्चय किया। और स्पर्श, रस, गंध, रूप जो जड़ शरीर में अपनत्व था, उसे दूर किया।

इस प्रकार की दृढ़ श्रद्धा से कर्म वर्गणायें ज्ञान, दर्शन सुख, वीर्य से हटी और निज स्वरूप जो त्रिलोकी के ज्ञाता, दृष्टा, अनंत सुख वीर्य प्रगट हुआ। उस समय पुद्गल, हाड़, मांस, मज्जादि में बदल शुद्ध निर्विकार, परमौदारिक, अचल अपने शुद्ध रूप में हो गया। इस प्रकार अपना आत्मा तीनों लोकों के जीवको प्रगट दिखाया।

गुरुदेव कहते हैं कि हे प्रभो ! जैसी अनुपम विभूति और उपदेश आपके द्वारा होता है, ऐसा संसार में अन्यत्र नहीं है। जैसा तेज अन्धकार को नष्ट करने वाला प्रकाश सूर्य में है, वैसा तेज, प्रकाश असंख्य तारागणों में भी नहीं है ॥१७॥

श्च्योतन्मदाविलविलोलकपोलमूल,
मत्तभ्रमद्भ्रमरनादविवृद्धकोपम् ।
ऐरावताभमिभमुद्धतमापतन्तं,
दृष्ट्वा भयं भवति नो भवदाश्रितानाम्॥३८॥

अन्वयार्थ — हे नाथ ! (श्च्योतन्मदाविलविलोल कपोल मूल मत्त भ्रमद् भ्रमरनाद विवृद्ध कोपम्) झरते हुए मद से जिसके कपालों के मूल भाग मलीन तथा चचल हो रहे हैं और उन पर उन्मत होकर भ्रमण करते हुए भौंरे अपने शब्दों से जिसका क्रोध बढ़ा रहे हैं ऐसे (ऐरावताभम्) ऐरावत हाथी के समान आकार वाले तथा (उद्धतं) उद्धत अर्थात् अकुशादि को नहीं मानने वाले और (आपतन्तं) ऊपर आ पड़ने वाले (इभम्) हाथी को (दृष्ट्वा) देखकर (भवत आश्रितानां) आपके आश्रय में रहने वाले पुरुषों को (भयं) भय (नो) नहीं (भवति) होता है ॥३८॥

श्री शोभारामजी —

> झरति प्रगट है के मद की अधिक धार,
> तातैं भीजि रह जुग चपल कपोल है ।
> भ्रमत भ्रमर मत्त तिनको सुनाद होत,
> झकार सबद तैं भरोम मे कलोल है ॥
> ऐरावत गज के समान गजराज जहाँ,
> उद्धत भयो है धाय मारन को जोल है ।
> जिन पद शरन भये तैं भय दूर होत,
> भव्य जीव आनद में निडर अडोल है ॥३८॥

श्री हेमराजजी —

> मद अवलिप्त कपोल मूल अलिकुल झंकारैं,
> तिनसुन शब्द प्रचंड क्रोध उद्धत अतिधारैं ।

काल वर्ण विकराल कालवत सनमुख आवै,
ऐरावत सो प्रबल सकल जनभय उपजावै ॥
देखि गयद न भय करै तुम पद महिमा लीन,
विपत रहित सपति सहित वरतै भक्त अदीन ॥३८॥

श्री नाथूराम प्रेमीजी —

मद जल मलिन विलोल कपोलन पै, इत उत मडराके ।
कोप बढायो जिहि को अलिगन अतिशय शोर मचाके ॥
ऐसो उद्धत ऐरावत सम गज जो सनमुख आवै ।
तौ हूँ तुव पद सेवक ताको देख न नेक डरावै ॥३८॥

श्री गिरधरजी —

दोनों कपोल झरते मद से सने हैं,
गुंजार खूब करती मधुपावली हैं ।
ऐसा प्रमत्त गज होकर क्रुद्ध [illegible]
पावे न किन्तु भय आश्रित लोक [illegible]

श्री कमलकुमारजी —

लोल कपोलों से झरती है, जहाँ निरन्[illegible]
होकर अति मद मत्त कि जिस पर करते [illegible]
क्रोधासक्त हुआ यो हाथी उद्धत [illegible]
देख भक्त छुटकारा पाते, पाकर तव [illegible]

श्री नाथूराम प्रेमीजी —

मद करि लिप्त कपोल मूल [illegible]
तिनके शब्द प्रचड श्रवण [illegible]
ऐरावत सम महा मत्त गज [illegible]
देख, तिहारे भक्त नेक नहीं [illegible]

भावार्थ—आपने अपने आदर्श स्वरूप से जो जगत को शिक्षा दी, वह अद्भुत थी। इस प्रकार की शिक्षा जगवासी विकारी आत्मा कैसे दे सकती है। अरूपी, निर्विकार आत्मा के वचन नहीं होते। वे तो जड़ है, इसलिये जड़ वचनों द्वारा यथार्थ स्वरूप कही नहीं जा सकता। आप जिस शरीर में स्थित है, उसे जो कर्म और जिन कर्म वर्गणाओं ने आपके निज दर्शनों में आवरण डाल रक्खा था, उसका नाम दर्शनावरणी है।

दर्शनावरणी के नौ भेद हैं। निद्रा निद्रानिद्रा, प्रचला, प्रचला प्रचला, स्त्यानगृद्धि चक्षुदर्शनावरणी, अचक्षुदर्शनावरणी, अवधि दर्शनावरणी, और केवलदर्शनावरणी।

पहले क्रम से कही हुई निद्रा तो आत्मा को सर्वथा अपने समान बना देती है। उस समय चेतना सर्वांग में व्यापक होते हुये भी जड़ पदार्थ तक भी नहीं दीखते। जड़ पदार्थ का काला, पीला लाल नीला, सफेद आदि रंगों का शुद्ध अंशों में दिखाने वाली चक्षु इन्द्रिय है। वह शरीर के ऊपरी भाग में स्थित है। उसके आगे काला परदा सा है। उस परदे को छिद्रों द्वारा बिलकुल आभा भी न पड़े, उसे चक्षुदर्शनावरणी और पदार्थ का शुद्ध अंश आत्मा के उपयोग के साथ देखा जाय उसे चक्षुदर्शनावरणी का क्षयोपशम कहते हैं। इसी प्रकार जिह्वा, घ्राण, स्पर्श के द्वारा रस, गंध, रूखा चिकणा आदि का सर्वथा दर्शन न हो, उसे अचक्षुदर्शनावरणी और शुद्ध दीख पड़े उसे अचक्षुदर्शनावरणी का क्षयोपशम कहा जाता है। अवधिदर्शन देव, नारकियों के पर्याय के साथ है। मनुष्य और पशुओं की पर्याय के साथ नहीं होता। इसीलिये देव नारकियों के क्षयोपशम है और मनुष्य पशुओं के अवधिदर्शनावरणी का उदय है। मनुष्यादि उद्यम करें तो उसके भी क्षयोपशम हो सकता है। केवल ज्ञानावरणी का उदय मात्र संसारी जीवों के है। और यह क्षायक दर्शन है यह सर्वथा आवरण तेरहवें गुणस्थान में दूर होता है।

संसारी जीव मदोन्मत्त हाथी के समान है। हाथी के कपोलों

से मद झरता है। इनके मुख पर मान रूपी मद टपकता है। मुँह से घमड के वचन निकलते हैं। कुटुम्ब रूपी भौंरे स्वार्थ के लिये सताते रहत हैं। हर तरह चिडाते हैं कुपित होते हैं। किन्तु वे इसकी कुछ परवाह नहा करते। इस प्रकार ससारी जीवों द्वारा आपके भक्त अनेक प्रकार से सताये जाते हैं। यह उनके मध्य रह कर भी आपके दशन मे सदा आनन्दित रहते हैं। तव मतवाले अज्ञानी पशु हाथी के आक्रमण से क्यों कर भयभीत हो ?

गुरुदेव कहते हैं कि जिनके मद झरन से गाल गीले हो रहे हैं। जिन पर भौंरे गुजार कर रहे हैं। वह कानों को हिला हिला कर उडा रहा है। तव भी वार वार उसी पर वैठत हैं। जिससे उसका क्रोध अत्यन्त तीव्र होता जाता है। ऐस ऐरावत हाथी के समान विकराल हाथी को देख कर भी आपक भक्त आपके आश्रय से किंचित् भी भयभीत नहा होते ॥३८॥

भिन्नेभकुम्भगलदुज्ज्वलशोणिताक्त
मुक्ताफलप्रकरभूषितभूमिभाग ।
वद्धक्रम क्रमगत हरिणाधिपोऽपि,
नाक्रामति क्रमयुगाचलसश्रित ते ॥३९॥

अन्वयार्थ—और हे नाथ! (भिन्नेभकुम्भगलदुज्जल शोणिताक्त मुक्ताफलप्रकरभूषितभूमिभाग) विदारे हुये हाथियो के मस्तकों से जो रक्त से भीगे हुये उज्वल मोती पड़ते हैं, उनके समूह से जिसने पृथ्वी के भाग शोभित कर दिये हैं ऐसा तथा वद्धक्रम) आक्रमण करने के लिये बाँधी है चौकडी अथवा छलाँग जिसने ऐसा (हरिणाधिप अपि) सिंह भी (क्रमगत) पने में पड़े हुये (ते) आपके (क्रम युगाचल सश्रित) दोनों चरण रूपी पर्वतो का आश्रय लेने वाले मनुष्य पर (न आक्रामति) आक्रमण नहा करता है ॥३९॥

श्री सोभारामजी—

अति बलवत मत्त कुंजर के कुंभनि को,
नख तैं विदार डारै भिन्न भिन्न करिकै।
प्रगटत शोणित समूह तैं लिपत अति,
मुक्ता समूह भूमि परै जे विखर के॥
ऐसो मृगराज परचंड बल उद्धत है,
कीनों उतफाल विकराल रूप धरि के।
भव्य जन जो कदाचि जिनपद आश्रित है,
ताके सनमुख आय सके न उछारि के॥३९॥

श्री हेमराज जी—

अति मद मत्त गयद कुंभ थल नखन विदारै,
मोती रक्त समेत डारि भूतल सिगारै।
बॉकी दाढ़ विशाल बदन में रसना लोलै,
भीम भयानक रूप देखि जन थर हर डोलै॥
ऐसे मृगपति पग तलै जो नर आयो होय,
शरण गये तुम चरण की बाधा करै न सोय॥३९॥

श्री नाथूराम प्रेमजी—

जो मद मत्त गजन के उन्नत, कुंभ विदार नखन सों।
सिंगारत भुवि रुधिर सुरंजित सुन्दर सित मुकतन सों॥
भरी छलाग हतन कँह जिहिने, ऐसे खल मृगपति के।
पजनि परे बचै तव पद गिर आश्रित जन शुभ मति के॥३९॥

श्री गिरधरजी —

नाना करीन्द्र दल कुम्भ विदार के जो,
पृथ्वी सुरम्य जिनने गज मोतियों से ।
ऐसा मृगेन्द्र तक चोट करे न उस पै,
तेरे पदादि जिसका शुभ आसरा है ॥३९॥

श्री कमलकुमार जी —

क्षत विक्षत कर दिये गजों के, जिसने उन्नत गंडस्थल ।
कान्तिमान गज मुक्ताओं से पाट दिया हो अवनीतल ॥
जिन भक्तों को तेरे चरणों के गिरि की हो उन्नत ओट ।
ऐसा सिंह छलाँगे भर कर, क्या उस पर कर सकता चोट॥३॥

श्री नथमलजी —

महा मत्त गजराज कुम्भ थल नखन विदारै ।
मुक्ताफल जुत रुधिर डारि भूतल सिंगारै ॥
ऐसे मृगपति के सुचरण ढिंग जो नर आवै ।
तुम पद पंकज शरण गहत नहीं भय उपजावै ॥३९॥

भावार्थ —संसारी जीवों का दर्शन के पश्चात् ज्ञान होता है। आत्मा ज्ञान स्वरूप है। शुद्ध आत्माओं को दर्शन और ज्ञान एक ही समय में होता है । अशुद्ध आत्माओं का आभास मात्र वस्तु का दर्शन होता है। उसी समय ज्ञान नहीं होता। अथवा देखने के पश्चात् दूसरे समय में ज्ञान होता है । इसलिये यहाँ दर्शन ज्ञान को भिन्न भिन्न कहा है। दोनों का निमित्त कारण एक है। जिससे भिन्न होता है।

आत्मायें लोकाकाशवत् आकृति वाली है। प्रथम अवस्था में वह सूक्ष्म पुद्गल पिंड में सकुचित रूप में रहती है। जैसे हाथी विशाल काय आकृति वाला है। वह माता के गर्भ स्थान में

म मुचित रूप में होकर रहता है । उसमें हाथ, पैर, मुह आदि सब हैं। इसी प्रकार निगोदिया जीव के पिंड में भी उसकी लाक्षन् आकृति है। और उसमें अनंत ज्ञान, दर्शनादि गुण रहते हैं। यद्यपि उसके सारे आत्म प्रदेश पुद्गलों से आच्छादित है। किन्तु आत्मा के मध्य आठ प्रदेश सदा अचल रहते हैं। वे अरूपी अचल स्थान में हैं। सारे प्रदेशों पर सूक्ष्म कर्म वर्गणायें छाई हुई रहती हैं। यह भी अरूपी के समान अत्यंत सूक्ष्म है। हमारी चर्म दृष्टि तो उससे अनंत गुणी स्थूल उस जाति की वर्गणाओं को देखने में भी असमर्थ हैं।

कार्माण सूक्ष्म वर्गणाओं पर औदारिक स्थूल वर्गणायें रहती हैं। वे भी अत्यन्त सूक्ष्म रूप में होने से हमें नहीं दीखती। निगोद के जीवों के ज्ञान का विकास भी अत्यन्त सूक्ष्म है। उनके स्पर्श इन्द्रिय (शरीर) होने से उसके द्वारा उन्हें ज्ञान होता है। इन्द्रिय जनित ज्ञान को मतिज्ञान कहते हैं। और विशेष भेद रूप ज्ञान को श्रुत ज्ञान कहते हैं। यह दोनों ही ज्ञान उनको अल्पतम रूप में होता है। व्यवहार राशि में आते ही इन ज्ञानों का विकास बढ़ जाता है। पंचेन्द्रिय पर्याप्त अवस्था में यह परिपक्व हो जाता है। देव, नारकियों के अवधि ज्ञान की विशेषता होने से रूपी पदार्थों का स्थूल अंश दीखने लगता है। किसी किसी मनुष्य के भी क्षयोपशम से हो सकता है। इसे अवधिज्ञान कहते हैं। पंचेन्द्रिय, पर्याप्त महर्षि अपने मन द्वारा अन्य मन वाले प्राणियों के चिन्तवन में आती हुई वस्तुओं को जानने लगे। उसे मन पर्यय ज्ञान कहते हैं। मनुष्य कर्मों के सारे आवरण को हटा कर सर्वाङ्ग से सकल द्रव्यों की गुण पर्यायों को प्रत्यक्ष जानता है। उसे केवल ज्ञान कहते हैं। केवल ज्ञान क्षायक है। और चारों ज्ञान क्षायोपशमिक योग्यतानुसार होते हैं।

इनके आवरणों से मतिज्ञानावरणी, श्रुतज्ञानावरणी, अवधि ज्ञानावरणी, मनपर्ययज्ञानावरणी और केवलज्ञानावरणी ये पाँच भेद

हो जाते हैं। इनमें दो श्रुत के सम्यक्त्वी के ही होते हैं। तीन मिथ्यात्वियों के भी होने से कुमति, कुश्रुति और कुअवधि कहे जाते हैं। मिथ्यात्व सहित ज्ञान को अज्ञान कहते हैं। इस अज्ञान सिंह ने सारे विश्व के प्राणियों को अपने चारों गति रूपी चौकड़ी में फँसा रक्खा है और यह बड़े बड़े पंडित, विद्वान, धर्मात्मा, तपस्वी कहे जाने वाले विशाल हस्तियों के मस्तकों से तार्किक साहित्य, लौकिक ज्ञान, गुण, रूप मोतियों व दर मिथ्यात्व रूपी रक्त से रंजित पृथ्वी में फैलाकर केवल संसार की ही शोभा बढ़ाते रहते हैं। ऐसे अज्ञान सिंह के पंजे में फँसा हुआ प्राणी आपके शुद्ध स्वरूप का आश्रय लेते ही अज्ञान सिंह के पंजे से किसी प्रकार आघात नहीं होता। तब वह तिर्यंच पशुसिंह की क्या परवाह कर सकते हैं।

गुरुदेव कहते हैं कि विशाल हस्तियों के मस्तक को विदार उनके रक्त रंजित मोतियों को पृथ्वी में बखेर कर बढ़ाई पृथ्वी की शोभा जिसने, ऐसा बलवान सिंह अपनी चौकड़ी बाँध आपके भक्तों पर आक्रमण करता है, वह आपके प्रभाव से सर्वदा निष्फल होता है ॥३९॥

कल्पान्तकालपवनोद्धतवह्निकल्पं,
दावानलं ज्वलितमुज्ज्वलमुत्स्फुलिङ्गम्।
विश्वं जिघत्सुमिव सम्मुखमापतन्तं,
त्वन्नामकीर्त्तनजलं शमयत्यशेषम् ॥४०॥

अन्वयार्थ—हे भगवान् (कल्पान्तकालपवनोद्धतवह्निकल्प) प्रलय काल के पवन से उत्तेजित हुई अग्नि के सदृश तथा (उत्फुलिंगम्) उड़ रहे हैं ऊपर को फुलिंगे जिससे ऐसी (ज्वलितम्) जलती हुई (उज्ज्वलम्) उज्ज्वल और (अशेष) सम्पूर्ण (विश्व) संसार को (जिघत्सुम् इव) नाश करने की मानों जिसकी इच्छा ऐसी (सम्मुख आपतन्त) आती हुई (दावानल)

को (त्वन्नामकीर्तन जल) आपके नाम का कीर्तन रूपी जल (शमयति) शान्त करता है ॥४०॥

श्री शोभारामजी —

प्रलय पवन तें प्रचड प्रज्वलित अति,
अगनि समूह ज्वाल माल अति गति हैं ।
उडत प्रगट जातें अनत फुलिंग अति,
समन न होत तेज पुज न रुकति हैं ॥
यम तें भयानक अचानक चहुँ दिशानि,
वन दहि मानों विश्व लोक को भ्रमति हैं ।
मनमुख आनत ही अरहत नाम जल,
दावानल के समूह तुरत नमति हैं ॥४०॥

श्री हेमराजजी —

प्रलय पवन कर उठी आग जो तास पटतर,
वमें फुलिंग शिखा उतग परजल निरतर ।
जगत समस्त निगल्ल भस्म कर हैंगी मानो,
तडतड़ाट दव अनल जोर चहु दिशा उठानों ॥
सो इक छिन म उपशमें नाम नीर तुम लेत,
होय सरोवर परिनमें विकसित कमल समेत ॥४०॥

श्री नाथूराम प्रेमीजी —

प्रलय पवन प्रेरितपावक सो, विस्तृत अधिक उतगा ।
प्रज्वलित उज्वल नभ में जिहि के, अगणित उड़त फुलिंगा ॥
ऐसी प्रबल दवानल जो सब, जगत भस्म करि डारै ।
सोहू तुव गुणगान नीर सो, शीतलता विसतारै ॥४०॥

श्री गिरधरजी —

झालें उठे चहुँ उड़े जलते अंगारे,
दावाग्नि जो प्रलय वह्नि समान भासे।
संसार भस्म करने हित पास आवे,
त्वत्कीर्ति गान शुभ वारि उसे शमावे ॥४०॥

श्री कमलकुमारजी —

प्रलय काल की पवन उठाकर जिसे बढ़ा देती सब ओर।
फिकें फुलिंगे ऊपर तिरछे, अंगारों का भी हो जोर॥
भुवन त्रय को निगला चाहे, आती हुई अग्नि भभकार।
प्रभु के नाम मंत्र जल से वह बुझ जाती है उसही बार॥४०॥

श्री नथमलजी —

प्रलयपवन करि उठि अगनि ता सम भयकारा।
निकसित तेन फुलिंग निरंतर जलत दुखारी॥
किधौं जगत सब भस्म करेगी सनमुख आवत।
नाम नीर तुम लेत अगनि को वेग नसावत॥४०॥

भावार्थ—अज्ञान रूपी सिंह के आक्रमण को आपके भक्त सर्वथा निष्फल बना देते हैं। उनके वह प्राण हरण नहीं कर सकता। तब पूर्व बद्ध कमतृष्णा रूपी डाइन के उदय द्वारा काम करते रहते हैं इन कर्मों के आश्रव में मोहनीय की पूर्ण सहायता है।

मोहनीय के दो पुत्र हैं। दर्शन मोह और दूसरा चारित्र मोह। दर्शन मोह के तीन पुत्र मिथ्यात्व, सम्यक् मिथ्यात्व, और सम्यक् प्रकृति मिथ्यात्व। मिथ्यात्व मोह महा बलवान, प्रतापी है। इसने सारे विश्व के प्राणियों को काबू में कर रक्खा है। जिससे सारे प्राणी शरीर को ही आत्मा समझते रहते हैं। दूसरे ने तटस्थ नीति धारण कर रक्खी है। तीसरे ने आत्मा को जानने पर भी श्रेणी

चढने नही दते। मोहनीय का दूसरा पुत्र चारित्र मोह है। इसके दो पुत्र हैं। कपाय और नोकपाय। कपाय के १६ पुत्र और नोकपाय के नो सन्ताने हैं। कपाय के १६ पुत्रो में ४ महा प्रतापी अनत वल युक्त हैं। यह अपने दशन मोह के पुत्र मिथ्यात्व से वडा प्रेम करते हैं इनको अनतानुवधी क्रोध, मान, माय, लोभ कहते हैं। इनसे छोटे भाइ ४ इनका प्रेम सम्यक् मिथ्यात्व और सम्यक् मोह से है। किंतु वडे भाई अनतानुवंधी जैसा गाढा प्रेम नही है। साथ रहे तो दोनों मिल कर काम करे और य दोनो अप्रत्याख्यान भिन्न हो जाय अर्थात् आत्मा इनका हटादे, तब भी आत्मा शरीर स भिन्न है। ऐसा पूर्ण निश्चय कर लेने पर भी आत्मा को उस रास्ते में (क्रिया) जाने नहीं दता है। इनको अप्रत्याख्यान क्रोध, मान, माया, लोभ कहते हैं। इनस छोटे भाइ चार और हैं। इनका प्रेम केवल सम्यक् मोह मे है। दोनों साथ मिल कर सम्यक्त्व मोह के न होने पर भी आत्मा को किंचित अपनी ओर झुकाने का अवसर दते हैं। इसको प्रत्याख्यान क्रोध, मान, माया, लोभ कहते हैं। सब से छोटे चार भाइ हैं। वे भी दशन मोह से कुछ मेल रखते हैं। साथ म या उसके अभाव में अपना काम करते रहते हैं। यह आत्मा को किसी काय म अधिक बाधा न डाल कर अपना भरण पोषण भी करते हैं। इनके बरावरी का बर्ताव होने से इन्हें संज्वलन क्रोध, मान माया, लोभ कहते हैं। नोकपाय के हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्री वेद, पुरुष वेद, नपु सक वेद रूप हैं। हास्यादिक छ संज्वलन तक तो साथ रहते हैं। सज्वलन की हार होती देख, ये खिसक जाते हैं। मिथ्यात्व और अनतानु वधी के साथ सब कपायें काम करती हैं। इन सबा के बल को पाकर तृष्णा रूपी अग्नि कल्पान्त काल की पवन के समान सब जीवा के हृदय में भभकती रहती है। जिसमे भाति भाति के विकल्प, चाह रूपी फुलिंगे उठते रहत हैं। ऐसी अग्नि विश्व के प्राणियो को प्रज्वलित करती हुई, जब आपके भक्त सन्मुख आती है, तब वे

आपके गुणानुवाद रूपी जल से ऐसे शान्त कर देते हैं।

गुरुदत्त कहते हैं कि मध्याह्न काल की पवन से लगा हुई अग्नि के समान दावानल जिसमें अद्भुत प्रकाश और चिनगारी उछल रहे हैं। जो सारे विश्व को निगलती जा रही है ऐसी अग्नि अपने सम्मुख आती देख आपके भक्त आपके नाम रूपी जल से शीघ्र शान्त कर देते हैं ॥३ ॥

रक्तेक्षणं समदकोकिलकण्ठनील
क्रोधोद्धतं फणिनमुत्फणमापतन्तम्।
आक्रामति क्रमयुगेण निरस्तशङ्क
स्त्वन्नामनागदमनी हृदि यस्य पुंसः ॥४१॥

अन्वय—हे जगन्नाथ ! (यस्य) जिस (पुंसः) पुरुष के (हृदि) हृदय में (त्वन्नाम नागदमनी) तुम्हारा नामरूपी नाग दमनी नहीं है। वह पुरुष (क्रमयुगेन) अपने पैरों से (रक्तेक्षणं) लाल नेत्र वाले (समद कोकिल कंठ नील) मदोन्मत्त, कोयल के कंठ समान काले (क्रोधोद्धतं) क्रोध से उद्धत हुए और (उत्फणं) उठाया है ऊपर को फण जिसने ऐसे (आपतन्तं) डसने के लिये सन्मुख हुए (फणिनं) नाग को (निरस्त शंक) शंका रहित अर्थात् निडर होकर (आक्रामति) उल्लंघन करता है। अर्थात् पांव देकर उसके ऊपर से चला जाता है ॥४१॥

श्री मोभारामजी —

कोकिल के कंठ सम स्याम अति भयभीत,
लोचन भयानक अरुन विष ज्वाल हैं।
बल परचंड धरि धरि क्रोध उद्धत हैं,
फण ठाडो करत अधिक विकराल हैं ॥
ऐसोउ भुयगम नरण के निकट आइ,
प्रगट निशंक हूँ जैं काल को प्रभाल हैं।

प्रभु तुम नाम नाग दमनि ह्वै भव्यनि को,
रचक न व्यापै विष मुख की गुधाल है ॥४१॥

श्री हेमराजजी —

कोकिल कठ समान श्याम तन क्रोध जलता,
रक्त नयन फुकार मार विष कण उगलता।
फण को ऊचों करै वेग ही सन्मुख धाया,
तब जन होय नि.शक देख फण पति को आया।
जो चॉपे निज पग तलै व्यापै विष न लगार,
नाग दमनि तुम नाम की है जिनके आधार ॥४१॥

श्री नाथूराम प्रेमीजी —

कारो ममद पिक कठ सम चख, जासु अरुन भयानमो।
ऊँचो करै फण फुकरत, आवै चलो जो सामने॥
तिहि साप के सिर पाव देकर, चलै सो अति निडर हो।
तुव नाम रूपी नाग दमनी, धरत जो हिय में अहो ॥४१॥

श्री गिरधरजी —

रक्ताक्ष क्रुद्ध पिक कठ समान काला,
फुकार सर्प फण को कर उच्च धावे।
निःशक हो जन उसे पग मे उलाँघे,
त्वन्नाम नाग दमनी जिसके हिये हो ॥४१॥

श्री कमलकुमार जी —

कठ कोकिला सा अति काला, क्रोधित हो फण किया विशाल,
लाल लाल लोचन करके यदि, झपटे नाग महा विकराल॥
नाम रूप तव अहि दमनि का लिया जिन्होंने हो आश्रय,
पग रख कर निशक नाग पर गमन करे वे नर निर्भय ॥४१॥

श्री नयमलजी —

रक्त नयन कोकिल कंठ मम अहि अति कारो।
क्रोधित मनमुख आय उठाय गुफ़्फ़ण विष डारो॥
व्यापै विष न लगार उठें चन्दन ज्यूं नर्पे।
नाग दमनी तुम नाम पुरष जो उर में जर्पे॥४१॥

भावार्थ —तृष्णा रूपी अग्नि को शमन करने के लिये आपके कीर्तन रूपी जल की आवश्यकता है। ऐसा हमारा निश्चय अनुभव होना भी कीर्तन रूपी जल, आत्म रूपी अगाध समुद्र से लेकर तृष्णा रूपी अग्नि पर डालने के लिये शक्ति भी होनी चाहिए। हम यह जानते हैं कि आत्मा और पुद्गल दोनों में अनंत शक्ति है। किन्तु इन दोनों ही शक्तियों को अंतराय कर्म दबाये बैठा है।

संसार में पाँच दान मुख्य हैं। देना, लेना, भोग, उपभोग और बल। 'देगा सो पावेगा, बोवेगा सो लूंगा'। प्राणी, अपने शरीर अस्वस्थ होने पर उसको औषधादि देकर स्वास्थ्य बनाने का प्रयत्न करते हैं। वे स्वस्थ तब ही बन सकते हैं जब वे अपने विकारी पदार्थों को देते हैं। जितना विकारी पदार्थ शरीर से बाहर कर देता है, उतना ही वह स्वास्थ्य होने के योग्य बनता है। और जब बाहर से विकारी पदार्थ जितना लेता है, उतना ही अस्वस्थ बनता जाता है। अब यह प्रश्न उठता है देना और लेना दोनों ही पर वस्तु है। दिये बिना तो किससे और लिये बिना दे कहाँ से ? आत्मा अनादि से सूक्ष्म पुद्गलों में ओत प्रोत है। और यह इसी का विनय करता रहता है। तब तक उसकी गणना संसार में नहीं होती। प्रकृति के नियमानुसार जब यह उसे सर्वथा देती है, तब उसे अधिक मिलता है अर्थात् मृत्यु उससे सर्वथा त्याग कराती है। तब जन्म उसे दिलाता रहता है। जीवन, बिना भोगोपभोग के नहीं टिकता। और यह शक्ति के अनुसार ही भोगे जाते हैं।

आत्मा पुद्गल द्रव्यों को सर्वथा दे देवे, यह ही

तब तीन लोक के त्रिकालवर्ती पदार्थों के देखने जान का उसे लाभ हो और वह समस्तक्षणवर्ती पर्यायों का भोग और छहों द्रव्यों का पूर्ण उपभोग कर सके। पुद्गलों की शक्ति का उपभोग सर्वथा छोडते ही अपनी अनंत शक्ति स्वयमेव व्यक्त हो जाती है। यह ही दान, लाभ, भोग, उपभोग, और वीर्य हैं। इस शक्ति के आवरण को दानान्तराय, लाभान्तराय, भोगान्तराय, उपभोगान्तराय और वीर्यान्तराय कहा जाता है।

संसारी जीव, आहार, औषधि, शास्त्र अभय ये चार प्रकार के दान होते हुए न दे सके, उसे दानान्तराय, व्यवसाय करने की वीर्य शक्ति के अभाव को लाभान्तराय, खाद्य, लेह्य, पुष्प मालादि की अप्राप्ति को भोगान्तराय, स्त्री, सवारी, महलादिकों का उपभोग कर न सके उसको उपभोगान्तराय और मन, वचन, काय की अशक्तता को वीर्यान्तराय कहते हैं।

अन्तराय कर्म सर्प के समान भयानक है। सर्प निधि पर अधिकार करके उस पर बैठता है। यह आत्म निधि पर बैठता है। निधि के वास्तविक अधिकारियों को पहले तो यह मालूम नहीं होता है कि हमारे पास निज का अटूट भंडार है। जिनको थोडा बहुत, सुना सुनाया मालूम हो जाता है, तब इसे पर पदार्थों में मोह रखते हुए, उसमें से कुछ देते हैं। अधिक प्राप्ति की इच्छा से भोगोपभोग में अरुचि रखता है। स्वर्गादिक की प्राप्ति के लिये त्यागमें शक्ति लगाते हैं। सुन्दर शरीर पाने के लिये, इस शरीर को त्यागते हैं। ऐसी परिस्थिति में यह दानादि मंत्र, तंत्र, उपवासादि करके अपनी निधि के जाते हैं। और इसे निकालने की चेष्टा करते हैं। उस समय उन्हें वह सर्प विकराल, भयावना, उद्धत, जवान, लाल आँखें, फण ऊँचा किये हुये झपटता हुआ मालूम होता है। वे भयभीत होकर अरूपी निधि की उपेक्षा करते हैं। लेकिन फिर नहीं छूटते। किन्तु आपके भक्त आपके स्वरूप को हृदय में धारण किये हुये हैं। उनकी दृष्टि में यह सर्प अजीव जड़ केवल पुद्गलादि है।

गुरु देव कहते हैं कि महा विकराल, लाल लाल आँखें भयान, उद्धत, कोयल के समान काला, फण ऊँचा कर फुकार करते हुये, सन्मुख आने वाले सर्प को आपके नाम, आपके ध्यान रूपी नाग दमनी के प्रभाव से मनुष्य उसके आक्रमण को निर्भयता के साथ उपेक्षा करते हुये, आपके ज्ञान चारित्र रूपी युगल चरणों में बसा जाते हैं ॥४१॥

वल्गत्तुरङ्गगजगर्जितभीमनाद-
माजौ बलं बलवतामपि भूपतीनाम् ।
उद्यद्दिवाकरमयूखशिखापविद्धं,
त्वत्कीर्तनात्तम इवाशु भिदामुपैति ॥४२॥

अन्वयार्थ – हे जिनवर (आजौ) संग्राम में (त्वत्कीर्तनात्) आपके नाम का कीर्तन करने से (बलवताम्) बलवान (भूपतीनाम्) राजाओं का (वल्गत् तुरंग गज गर्जित भीमनाद) युद्ध करते हुए घोड़ा और हाथियों की गर्जना से जिसमें भयानक शब्द हो रहे हैं। ऐसा (बलम् अपि) सैन्य भी (उद्यद्दिवाकर मयूख शिखापविद्धं) उदय को प्राप्त हुए सूर्य की किरणों के अग्रभाग से नष्ट हुए (तम इव) अन्धकार के समान (आशु) शीघ्र ही (भिदाम्) भिन्नता को नाश को (उपैति) प्राप्त होता है ॥४२॥

श्री सोमागम जी —

मद मय मत्त गजराज औ तुरगन पा,
कोलाहल नाद गर्जनादि गरजति हैं ।
सुभट भयानक प्रचंड बल उद्धत हैं,
ऐसो दल बलवान भूपति को मत हैं ॥
प्रभु जिनराज ए सकल भय निर्बल होय,
तुम गुन कथन से निर्भय करति हैं ।

जैसे दिनकर की किरन की परसि पाय,
निशि के समूह अन्धकार ज्यों नसति है ॥४२॥

श्री हेमराजजी —
निस रन माहि भयानक रन कर रहे तुरगम,
घन से गजगरजाहिं मत्त मानो गिर जगम ।
अति कोलाहल माहि बात जह नाहिं सुनीजैं,
राजन को परचड देख बल धीरज छीजैं ॥
नाथ तिहारे नामतें अघ छिन माहि पलाय,
ज्यों दिनकर परकाश तें अन्धकार विनसाहिं ॥४२॥

श्री नाथूराम प्रेमजी —
हय गय हजारों लरत करत अपार नाद भयावने ।
अस निरुट सैन्य बली नपन की जम रही हो सामने ॥
सो तुरत तुव गुण गान सों, सग्राम में नशि जात है ।
ज्यों उदित दिनपति के करन मों तम समूह विलात है ॥४२

श्री गिरधरजी —
घोडे जहाँ हिने हिन गरजे गजाली,
ऐसे महा प्रबल सैन्य धराधिपों के ।
जाते सभी विखर है तव नाम गाए,
ज्यों अन्धकार उगते रवि के करों से ॥४२॥

श्री कमलकुमार जी —
जहाँ अश्व की और गजों की, चीतकार सुन पड़ती घोर ।
शूरवीर नृप की सेनायें, रव करती हो चारों ओर ॥
वहाँ अकेला शक्ति हीन नर, जपकर सुन्दर तेरा नाम ।
सूर्य तिमिर सम शूर सैन्य का कर देता है काम तमाम ॥४२।

श्री नयमलजी —

बाजी जहाँ गयद रण गिरै घन सम गाजै ।
नृपति महा बलवत सैन्य तिनकी अति छाजै ॥
ऐसी सैन्य महान नाम तुम जपत पलावै ।
ज्यों रवि उर तें महाँ सघन तम वेगि नसावै ॥४२॥

भावार्थ —आपके भक्त सर्प को जड़वत् जान ठुकरा देते हैं। किन्तु वह जड़ पदार्थ भी अत्यन्त गहरा चिन्ता है । वह सहज ही आत्मनिधि प्रगट होने नहा देता। उसके लिये द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की सहायता की आवश्यकता है। मनुष्य शरीर, वज्रवृषभ नाराच संहनन, आर्य क्षेत्र, चौथा काल, शुद्ध भाव है। वर्तमान में सिवाय आर्य क्षेत्र के न योग्य शरीर है, न काल भाव है। ऐसी परस्थिति में समय की प्रतीक्षा करना आवश्यक है।

वर्तमान में आत्म स्वरूप की दृढ श्रद्धा बहुत ही अल्प प्राणियों के होती है वे नाम मात्र के अरहंत देव, निग्रन्थ गुरू, दयामयी धर्म का गुणगान कर , जप, तप, उपवासादि करते गृहस्थ का त्याग कर देशव्रती, महाव्रती का रूप धारण करते हैं। उनसे आत्मा का सम्पूर्ण कल्याण नहीं होता । उन्हें उससे स्वर्गादिक की प्राप्ति होती है। जहाँ यावज्जीवन असंयमी ही रहना पड़ता है। सदा सर्वदा भोगोपभोग भोगने पड़ते हैं। त्याग और कष्ट जितने वर्ष यहाँ सहन किये थे, व तो उनके केवल उस, पाँच श्वास के बराबर हैं। उनकी आयु सागरों की होती है।

भगवान् के भक्त संसार, शरीर, भोग से भिन्न अपने को समझ उनकी उपेक्षा करते हैं। दैवयोग से उनके देवायु का बन्ध भी पड़ जाय तो वहाँ भी संसार, शरीर, भोग से उदास रहते हैं और मनुष्य जन्म पाकर अपना स्वरूप व्यक्त कर लेते हैं। वे भी बाह्याभ्यन्तर परिग्रह को छोड़ देते हैं । तपश्चरणादि करते हैं उन्हें भी परीषह होता है। किन्तु इस अवस्था में परम प्रसन्नता

होती है। वह अपने पुद्गल पिंडा को अपने जैस ही विकार रहित देखना चाहत हैं। वे परीषह न हो तो उनका आह्वानन करते हैं।

वेदनीय कर्म दो प्रकार के हैं। पुन्य और पाप। वे पाप से अधिक पुन्य को बाधक मानते हैं। पुन्य के उदय में पाप के फलों का स्वागत बड़े प्रेम से करते हैं। भरत चक्रवर्ती के जैसे धन, ऐश्वर्य, सपदा, स्त्रियों के भोगा को भोगते हुये भी उनकी रूचि उनमे नहीं होती। जिस साता वेदनीय का बध, उन्य के लिये तीन लोक के सारे प्राणी प्रयत्न करत रहते हैं। उस साता वेदनीय से सर्वदा उदास रह कर उसके विपरीत भोगोपभोग का त्याग भूमि शयन, भूख, प्यासादि से मग्न प्रसन्न रहते रहते अपनी आत्म निधि की खोज कर पता लगा लेते हैं। वे ही भक्त आपके समान स्वयमेव हो जाते हैं।

पुन्य उदय में भी वह कमा के कारण बडे बडे महाराजा उनको उदासीन जान बलवान हाथी घोडे, रथ प्याद, अनगिनती सेना सहित उन पर आक्रमण करने चले आते हैं और वे निर्भय एकाकी अपनी दिव्य, अनत, आत्म शक्ति के व्यक्त करन में मस्त रहते हैं।

गुरु देव कहते हैं कि गरजते हुये हाथियों, हिनहिनाते घोडा से, बडी भारी सेना सहित राजा-महाराजा, आपके भक्त पर आक्रमण करते हैं व आपके प्रभाव से ही विलय जाते हैं। जैसे सूर्य की प्रभा स अन्धकार ॥४२॥

कुन्ताग्रभिन्नगजशोणितवारिवाह
वेगावतारतरणातुरयोधभीमे ।
युद्धे जय विजितदुर्जयजेयपक्षा
स्त्वत्पादपङ्कजवनाश्रयिणो लभन्ते ॥४३॥

अन्वयार्थ—हे देव (कुन्ताग्रभिन्न गज शोणित वारिवाह वेगा वतारतरणातुरयोधि भीम) बर्छी की नोकों से छिन्न भिन्न हुये, हथियों के रक्त रूपी जल प्रवाह के वेग में पडे हुये और उसे तैरने के लिये आतुर हुये योद्धाओं से जो भयानक हो रहा है ऐसे (युद्धे)

युद्ध में (त्वत्पाद पकज वना श्रयिणो) श्रापके चरण कमल रूपी बनका आश्रय लेने वाला पुरुष (विजित दुर्जय जेय पत्ता)नही जीता जा सके ऐसे भी शत्रु पक्ष को जीतते हुये (जय) विजय को (लभते) प्राप्त करते हैं ॥४३॥

श्री मोभारामजी —

तीक्षण सुधार सैल सार श्रणी शस्त्रनि तें,
ठौर ठौंर मारे गज मस्तक अनेक हैं।
शोणित के धार मानों जल को प्रवाह भूरि,
तामें तिरे श्रार पार सूरवीर जे कहे ॥
ऐसो युद्ध तिरवे को उद्यत भये हैं योद्धा,
जीतैं न सग्राम अरि पक्ष जाकी टेक हैं।
वीतराग देव पद पकज के आश्रित को,
जीत न सकै है ऐसो निरचय निवेक हैं ॥४३॥

श्री हेमराजजी –

मारैं जहाँ गयद कुभ थल नखन निदारैं,
उमगैं रुधिर प्रवाह वेग जल सम विस्तारैं।
होय तिरन असमर्थ महा जोधा बल पूरैं,
तिम रण मे जिन तोर भक्ति जे है नर सूरे ॥
दुर्जय अरिकुल जीत के जय पावैं निकलक,
तुम पद पकज मन बसैं ते नर सदा निशक ॥४३॥

श्री नाथूराम प्रेमीजी —

बरछीन सों छिदि गजन के सिर जहँ रुधिर धारा बहे।
परि वेग मे तिनके तरन को वीर चहु आतुर रहैं।
ऐसी विकट रण भूमि में दुर्जय अरिन पैं जयल,
तुम चरन पकज वन मनोहर जो सदा सेवत

श्री गिरधरजी —

बर्छे लगे बह रहे गज रक्त के हैं,
तालाब से विकल हैं तरणार्थ योद्धा ।
जीते न जाय रिपु समर बीच ऐसे,
तेरे प्रभो चरण सेवक जीतते हैं ॥४३॥

श्री कमलकुमारजी —

रण मे भालो मे बेधित गज तन से बहता रक्त अपार ।
वीर लडाकू जहँ आतुर हैं, रुधिर नदी करने को पार ॥
भक्त तुम्हारा हो निराश तहँ, लख अरिसेना दुर्जयरूप ।
तव पादारविन्द पा आश्रय जय पाता उपहार स्वरूप ॥४३॥

श्री नथमलजी —

भेदत हैं गज शीश कुन्त के अग्र भाग कर ।
बहत रुधिर परवाह वीर तरवे को आतुर ॥
ऐसे समर मझार जीति अरि विजय लहैं है ।
तुम पद पकज विघन नाश जे शरण गहैं हैं ॥४३॥

भावार्थ —वेदनीय कर्म दो प्रकार का है । साता और असाता । साता वेदनीय संसारी जीवों को प्रसन्नता कराती है । तब उस ही क्षण असाता वेदनीय उसकी न्यूनता बताकर अप्रसन्नता कराती है । दोनों में ही विकल्प है । दोनों पर पदार्थ से सबंधित है । दोनों ही आत्म स्वरूप में बाधक है । दोनों ही मोह की चेरी है । और दोनों ही चौदहवे गुणस्थान के द्विचरम समय तक साथ रहती है ।

मोहनीय कर्म के उदय में दोनों ही आत्मा को पुद्गलों में रुचि अरुचि कराती हैं । जैसे कम्बल एक ही पदार्थ है । शीत समय वह प्रिय और ताप में अप्रिय मालूम होता है । और दोनों के अभाव में कम्बल अपने रूप में है । उसमें रुचि अरुचि दोनों ही नहीं होती ।

धास्तव में देखा जाय तो पदार्थ के संयोग रात्रि को असाता ही होती है। असाता की असहनीय दशा की कमी को साता कहा जाता है। जैसे कोइ आदमी रंक है, वह चाहता है कि मेरे पास किसी तरह सौ रु० हो जाय तो में सुखी हो जाऊँ। उसे सौ के स्थान पर ५००) रु० मिलने पर भी न्यूनता ही रहती है। जब उसे ५००) म १००) कम हो जाय, चोर ले जाय, या खो जाय तब वह रोता है, विलाप करता है। किन्तु उसके साथी का १००) के स्थान पर ८००) चले जाय, तब प्रसन्न होकर कहता है कि अब मुझे १००) रु० जाने का दुख नहा है। अपने पास उससे दुगुने रु० मान प्रसन्न होता है यही साता असाता है। तीनो लोक के प्रत्येक प्राणी उस प्रकार की कल्पना से एक ही प्रकार के पदार्थ में साता असाता मान सुखी दुखी होते रहते हैं।

स्वर्ग स्थान में साता का ही प्राय उदय है। पर वह दूसरे के अपने से अधिक वैभव देख असाता जनित कष्ट उत्पन्न कर लेते हैं। नरक में घोर वेदना है। वहाँ प्राय असाता का ही उदय हो, किंतु अपने से दूसरे को अधिक कष्ट में देख और उससे अपने को न्यून मान असाता में साता बना लेता है। चौइन्द्री तक के प्राणिया को साता असाता की कल्पना ही नहा होती। सैनी पचेन्द्री में मनुष्य, पशुओ के मन इन्द्रिय होने से अपने राग द्वेष मयी भावों से साता असाता मान कर दुख-सुख की कल्पना करते रहते हैं।

जीव मात्र मरना नही चाहता। न मारकाट से सुख मानता है। जैसे जसे भूमि में वैभव ऐश्वर्य बढता है, वैसे वैसे तृष्णा बढती है। कोई राजा अपने पडौसी राजा के पास अपने से अनेक गुणी कम सपदा होने पर भी उससे छीनना चाहता है और उस पर बडी भारी, हाथी, घोडे, रथ, प्यादों की सेना लेकर चढ आता है। योद्धा गण इस समय मरने से प्रसन्न होते हैं और मार काट में सुख मानते हैं। हाथियों के सवार हाथियों के

सवारों से, घोडे, रथ, प्यादे अपने समान योद्धाओं से भिड जाते हैं। हाथियों के मस्तक छिन्न भिन्न हो जाते हैं। खूनी की नदियाँ बहती हैं। नरमुंड तैरने लगते हैं। योद्धागण एक दूसरे को ललकार रहे हैं। अन्यायी लोभी बलवान राजा को विजय लक्ष्मी वरमाला डालने आ गई है। इस समय वह बलहीन राजा इस अपार हिंसा के भय से मसार शरीर, भागों से विरक्त हो, आपकी शरण जाता है, तब विजय लक्ष्मी उसके गले में विनय सहित वर माला डाल देती है।

गुरुदेव कहते हैं कि बर्छा भाला की नोकों से छिन्न भिन्न हो गया है ऐसे हाथियों के मस्तक से रक्त की नदी बह रही है। योद्धा गण मरने मारने को उद्यत एक दूसरे को ललकार रहे हैं। अन्यायी, लोभी राजा की विजय निश्चय से सबको प्रतीत हो रही है। किन्तु वह बल हीन राजा जब आपकी शरण में आ जाता है, तब उसकी विजय हो जाती है ॥४३॥

अम्भोनिधौ क्षुभितभीषणनक्रचक्र
पाठीनपीठभयदोल्वणवाडवाग्नौ ।
रङ्गत्तरङ्गशिखरस्थितयानपात्रास्
त्रासं विहाय भवतः स्मरणाद्व्रजन्ति ॥४४॥

अन्वयार्थ—हे जगदाधार (भवत) आपके (स्मरणात्) स्मरण करने से (क्षुभित भीषण नक्र चक्र पाठीन पीठ भय दोल्वण वाडवाग्नौ) भीषण नक्र, चक्र मगर (घडियाल) पाठीन और पीठों से तथा भयकर विकराल वडवाग्नि करके क्षुभित (अम्भोनिधौ) समुद्र में (रङ्गत्तरङ्ग शिखर स्थित यान पात्रा) उछलती हुई तरंगों के शिखरों पर जिनके जहाज पड हुए हैं, ऐसे पुरुष (त्रास विहाय) आकस्मिक भय के बिना (व्रजन्ति) चले जाते हैं। अर्थात् पार हो ॥४४॥

श्री शोभारामजी —

अति जल जन्तु जे भयानक मगर मच्छ,
नक्र चक्र के समूह क्रोधवन्त भरिके।
पाठीन पीठ तें कुलाहल उपन्न भयो,
अति बड़वानल की ज्वाल विस्तरि कै॥
अमित तरंग तें समुद्र क्षोभवन्त एसो,
गहन अथाह गाह उठत उछरिके।
जिन सुमरन तें जिहाज भाग्य जीवनि को,
मन कष्ट दूर ह्वै कै पार होय तरिके॥४४॥

श्री हेमराजजी —

नक्र चक्र मकरादि मच्छ करि भय उपजावैं,
जामें बड़वा अग्निदाह तें नीर जलावैं।
पार न पावैं जास थाह नहिं लहिये जाकी,
गरजैं अति गंभीर लहर की गिनती न ताकी॥
सुख सों तिरैं समुद्र को जे तुम गुन सुमराहिं,
लोल कलोलन के शिखर पार यान ते जाहिं॥४४॥

श्री नाथूराम प्रेमी जी —

जो ह्वै रह्यो भीषण मगर मच्छादिकन सों क्षुभित है।
विकराल बड़वानल भयंकर सदा जिहिं में जलत है॥
अस जलधि की लहरिन में, जिनकी जहाँजैं डगमगैं।
तुव नाम सुमरत हे जगत पति ते तुरत तीरैं

श्री गिरधरजी —

हैं काल नृत्य करते मकरादि जन्तु,
त्यो वाड़वाग्नि अति भीषण सिन्धुमे हैं।
तूफान में पड़ गये जिनके जहाज,
वे भी प्रभो! स्मरण से तर पार होते ॥४४॥

श्री कमलकुमारजी —

वह समुद्र कि जिसमे होवे, मच्छ मगर एव घड़ियाल।
तूफा लेकर उठती होवे, भयकारी लहरे उत्ताल॥
भमर चक्रमें फँसी हुई हो बीचों बीच अगर जल यान।
छुटकारा पाजाते दुख से, करनेवाले तेरा ध्यान॥४४॥

श्री नथमल जी —

नक्र चक्र मकरादि जीव जहँ भय उपजावत।
वड़वा अग्नि प्रचड ताम मधि धारि जलावत॥
प्रलय पवन करि डुले जहाज अरु भय उपजावत।
तुमरो नाम जपत यान तरि बाहर आवत॥४४॥

भावार्थ —निवल राजा आपका आश्रय पाकर विजय लक्ष्मी की वरमाला धारण करने पर भी, उसका उपभोग नहीं चाहता। उसको आपकी शरण में आते ही, यह दृढ निश्चय हो गया है कि यह विजय लक्ष्मी अस्थिर, चचल, ससार जल म फँसानेवाली है।

प्राणी निगोद म थे, जब तक इनके सूक्ष्म पिंड के ग्रहण, त्याग की स्वाभाविक क समान सी क्रिया अनत काल से होती चली आ रही थी। इस कारण से उन्हें सुख दुख का अनुभव नहीं था। न शरीर पूरा बनता था न इन्द्रियाँ। केवल एक सा सूक्ष्म पिंडों का ग्रहण, त्याग था। पूर्ण ज्ञानी को सुख दुख नहीं होता। और पूर्ण अज्ञानी भी सुख दुख का अनुभव नहीं कर पाता। आत्म ज्ञानी

शरीर को अपने से भिन्न समझ ज्ञाता द्रष्टा पने के स्वभाव में रहे तो शरीर छेदन-भेदन, मार-काट से उन्हें दुःख नहीं होता। वैसे ही ओपरेशन करते समय डाक्टर किसी प्राणी को अचेत करदे तो, उसे दुःख-सुख नहीं होता। केवल अन्तर इतना ही है कि सचेत आत्मा शरीर से अपने को सदा भिन्न समझता रहेगा। किन्तु अचेत किया हुआ प्राणी दवा का असर हटते ही दुःख-सुख की कल्पना करता है। निगोद राशि में जब तक प्राणी रहता है, तब तक वह तीनों लोकों में भ्रमण कर सकता है। उसे रोक-टोक नहीं है किन्तु वह देख जान नहीं सकता। वह उतना ही सूक्ष्म पिंड ग्रहण त्याग करता रहे, किन्तु वह जब अपने निश्चित पिंड से किंचित भी अधिक लेवें तो उसी समय से उसे बन्दी बना दिया जाता है। जो त्रस नाली के बाहर नहीं जा सकता। जिसे व्यवहार राशि कहते हैं।

बन्दियों के रहने के लिए मुख्यतया चार स्थान हैं। जिसे तिर्यंच, नारकी, मनुष्य, देवगति कही जाती है। सूक्ष्म जीवों के सर्व स्वतन्त्र स्थान हैं। त्रस तिर्यंचों के लिये मध्यलोक, नारकियों के लिये अधोलोक, देवों के लिये मुख्यतया उर्द्ध लोक, मध्यलोक और अधोलोक। मनुष्यों के लिये मध्यलोक में भी एक छोटा सा स्थान है। तीन लोक में अनन्त प्रकार की छोटी, बडी, हल्की, भारी वर्गणायें भरी पडी हैं। बन्दी हर प्रकार की वर्गणायें ले सकता है। और उसका प्रयोग कर सकता है। वह एक बन्दीगृह से दूसरे में जाता है तब उसको साथ आनुपूर्वी नाम भृत्य होता है। वह उसे दूसरे बन्दीगृह में सभला देता है। वहाँ उसे शरीर, इन्द्रियाँ मिलती हैं। और पुनबद्ध पदार्थ मिलते रहते हैं। वह उनसे सुख-दुःख की कल्पना कर अज्ञानता से अनिष्ट पदार्थ की इच्छा कर लेता है। तब वह दुखी बनता है। तब दूसरों में सुख की कल्पना करता है। इसी से वह अपने को ऊँचा और कभी नीचा मान लेता है। पुद्गल पिंडों के कारण सदा उसके ऊँच नीच के भाव बनते बिगडते रहते हैं। किन्तु पर पदार्थ से ऊँच नीच मानने वाला सदा, शाश्वत बन्दी ही रहता है। उसका

कभी किसी अवस्था मे भी वन्दीगृह से छुटकारा नही होता। जिस समय वह अपने को जान लेता है, उस समय से उसके सम भाव होने लगते हैं। मात्र जीव निगोद से सिद्ध तक के एक से मालूम होते हैं और वह पुद्‌गल पिंडों को जड रूप मे देखता है। निज रूप मे लीन हो जाता है। पूर्ववद् कर्म, चोर घातियाँ छूट जाने पर भी वन्दीगृह से नही छूटता। सर्वथा कर्म छूट जाने पर ही मुक्ति होती है। तब ही ऊँच-नीच का भेद दूर होता है। वैभाविक प्राणियों की नौका संसार समुद्र की लहरों में ऊँची नीची होती रहती है।

गुरुदेव कहते हैं कि संसार एक अपार समुद्र है। उसमें अनन्त प्रकार के प्राणी अपने स्वाँग में उछल-कूद कर रहे हैं। समुद्र की तरंगों में आया हुआ शरीर रूपी जहाज सदा ऊँचा नीचा होता रहता है। उससे प्राणी सदा भीत बना रहता है। आपके स्मरण से यह त्रास स्वयमेव दूर होता जाता है। और वह निर्भय पार हो अपने स्थान पहुँच जाता है ॥४४॥

उद्भूतभीषणजलोदरभारभुग्ना,
शोच्यादशामुपगताश्च्युतजीविताशा.।
त्वत्पादपङ्कजरजोऽमृतदिग्धदेहा,
मर्त्या भवन्ति मकरध्वजतुल्यरूपा' ॥४५॥

अन्वयार्थ —हे जिनराज (उद्भूत भीषण जलोदर भार भुग्ना) उत्पन्न हुये भयानक जलोदर रोग के भार से जो कुबड़े हो गये हैं, और (शोच्यादशा) शोचनीय अवस्था को (उपगता) प्राप्त होकर (च्युत जीविताशा) जीने की आशा छोड बैठे हैं। ऐसे (मर्त्या) मनुष्य (त्वत्पाद पङ्कजरजोऽमृत दिग्धदेहा) तुम्हारे चरण कमल के रज रूप अमृत से अपनी देह लिप्त करके—(मकरध्वज तुल्य रूपा) कामदेव के समान सुन्दर रूप वाले (भवन्ति) हो जाते हैं ॥४५॥

श्री सोभाराम जी—

निविध भयानक जलोदर असाध्यरोग,
उपजै शरीर माझ कष्ट के निदान हैं ॥
जाके अति भार सों सभारि न सके शरीर,
पावी अति पीर मन म अधीर ज्ञान हैं ॥
शोच दश चित्त में भई अपार उग्र रूप,
जीवनि की आशा गई कैसे रहे प्राण हैं ।
जिन पद पकज की रज तैं लिपत्ति देह,
भव्य जन रूप भये कदर्प समान हैं ॥४५॥

श्री हेमराजजी —

महा जलोदर रोग भार पीडित नर ने हैं,
वात पित्त कफ कुष्ट आदि जो रोग गहे हैं ।
सोचत रहे उदास नाहिं जीवन की आशा,
अति घिनावनी देह धरें दुर्गन्धि निवासा ॥
तुम पद पकज धूल को जो लावे निज अग,
ते निरोग शरीर लहि छिन में होय अनग ॥४५॥

श्री नाथूराम प्रेमीजी —

भीपण जलोदर भार सों, कटि नक निनकी हैं गई ।
अति शोचनीय दशा भइ, आशा नियन की तज दई ॥
ते मनुज तुम पद कज रज रूपी सुधा अभिराम से ।
जिन तन परम होव हिं अनूप, सुरूप वाले काम से ॥४५॥

श्री गिरधर जी —

अत्यन्त पीडित जलोदर भार से हैं ।
है दुर्दशा तन चुके निज जीविताशा ॥

ने भी लगा तव पदाब्ज रज सुधाको ।
होते प्रभो मदन तुल्य स्वरूप देही ॥४५॥

श्री कमलकुमार जी —

असहनीय उत्पन्न हुआ हो, विकट जलोदर पीड़ा भार ।
जीने की आशा छोडी हो, देख दशा दयनीय अपार ॥
ऐसे व्याकुल मानव पाकर, तेरी पद रज संजीवन ।
स्वास्थ्य लाभकर बनता उसका, कामदेव सा सुन्दर तन ॥४५॥

श्री नथमलजी —

महा जलधर रोग विकट पीड़ित नर जे हैं ।
जीवन की नहीं आश सोच कर दुखित भये हैं ॥
तुम चरणाम्बुज रेत प्रीत करि अंग लगावैं ।
कामदेव सम रूप छिनक में ते नर पावैं ॥४५॥

भावार्थ —पर वस्तु को ग्रहण करने वाले चोर हैं । और वे भी अपने से पर पदार्थ जो पुद्गल पिंड हलके हैं उन्हें ग्रहण करने वाले को नीच ऊँच मानते हैं । वैसे अधिक पिंड वाले उनको नीच और अपने को ऊँच मानते हैं । इस प्रकार समुद्र की तरंगों की ऊँचाई नीचाई के समान ऊँच नीच भाव होते रहते हैं और वह सदा बंदी बना रहता है ।

प्रत्येक बंदीखाने की मर्यादा, स्थिति, रहन-सहन भिन्न भिन्न प्रकार की है । नारकियों का स्थान अधोलोक में स्थिति ३३ सागर की, मर्यादा, अपने क्षेत्र तक मारना, ताड़ना, छेदन-भेदन सदा होता रहता है । उनकी मृत्यु अकाल नहीं होती । चाहे उनके शरीर खंड खंड कर दिये जावे, तब भी वे पारेवत् जुड़ जाते हैं । इनका शरीर वैक्रियक होता है । यह केवल दुःख भोगने को ही होते हैं । और मरण करके मनुष्य, तिर्यंच ही होते हैं ।

देव चार प्रकार के होते हैं। भवनवासी, व्यन्तर कल्पवासी और ज्योतिषि। भवनवासियों का निवासस्थान अधोलोक और व्यन्तरों का अधोलोक और मध्यलोक है। ज्योतिषियो का निवासस्थान मध्यलोक क ऊपरी भाग म और कल्पवासियों का स्थान ऊर्ध्व लोक है। भवन, व्यन्तर अधोलोक और मध्यलोक तक जा सकते हैं। ज्योतिषि सदा मेरू की प्रदीक्षणा व ढाई लोक के बाहर के यथास्थान स्थिर है। कल्पवासी सर्वत्र आ जा सक्ते हैं। आयु अपवर्त्त है। कम से कम एक पल्य और अधिक से अधिक ३३ सागर की है। यह सुख भोगने की पर्याय है। किन्तु कल्पित दु ख इस पर्याय म भी है। यह मर कर मनुष्य तिर्यंचो में होते हैं।

तिर्यंचो म अनेक जातियाँ हैं। एकेन्द्री जीव तीनो लोको में भरे पडे हैं। त्रस तिर्यंच बे न, चौ, पचेन्द्री मध्यलोक म हैं। इनकी आयु स्वास के १८वे भाग से लगा पल्यों तक की होती है। यह मर कर चारों गतियों में जा सक्ते हैं।

मनुष्या का एक छोटा सा स्थान समुद्र म बिन्दुवत् केवल ढाई द्वीप म है। इनकी गति इससे बाहर नहा है। इस पर्याय से चारा गतियों में सर्वत्र जा सक्ते हैं और यह दृढ निश्चय करले तो जन्म मरण से छूट सकता है। सारी कर्म वर्गणाओं को छोड बिना इस लोक में ही परिभ्रमण करना पडता है। जो एकवार कर्म वर्गणाओं से सर्वथा सम्बन्ध विच्छेद कर देता है। फिर वह मोक्ष स्थान म सदा शाश्वत रहता है। एसी मनुष्य पर्याय प्राप्त कर विषय भोग काक को उडाने का मोक्ष रूपी चिन्तामणि फेंक देता है। और पश्चाताप करता है। गया समय हाथ नहा आता। इन्द्रियों, विषयो के लोलुपी खाद्य अखाद्य वस्तुओ के संग्रह से उसे जलोदर महान रोग उत्पन्न हो जाते हैं। फिर भी वह त्याग की बजाय ग्रहण कर अपने आपको दुखी बना लेता है।

ऐसे इन च [illegible] महान् बंदीग्रह से कभी छुटकारा

पाता। इन्हा गतिया म अनादि काल से परिभ्रमण कर रहा है और करता रहेगा।

मनुष्य पर्याय म ऐसे-ऐसे महान पुरुष उत्पन्न हुये हैं कि व इस ससार रूपी बन्दीगृह को तोड फाड सदा के लिय मुक्त हो गये होंगे। ऐसे महान पुरुषों का समागम, सत्सग मिल जाय, उन पर दृढ श्रद्धा हो जाय तो इस बदीगृह से छूट कर यह मनुष्य निरजन, निराकार परम शुद्ध बन जाते हैं।

गुरुदेव कहते हैं कि जिनके जलोदर आदि भीषण रोग उत्पन्न हो गये हैं। पेट बढ गया है। कमर झुक गई है। अत्यन्त शोचनीय दशा हो गई है। जीवन आशा छूट गई है। ऐस प्राणी भी आपके चरण कमल की रज का सेवन करने से मृत्यु पर विजय कर सुन्दर कामदेव क समान हो जाता है ॥४५॥

आपादकठमुरुश्रृखलवेष्टिताङ्गा,

गाढ बृहन्निगडकोटिनिघृष्टजघा ।

त्वन्नाममत्रमनिश मनुजा स्मरत,

सद्य स्वय विगतबधभया भवति ॥४६॥

अन्वयार्थ —(अनिशं आपादकठम् उरु श्रृखलवेष्टिताङ्गा) जिनके शरीर पाव स लेकर गले तक बडी बडी साकलो से निरतर जकडे हुये हैं। और (गाढबृहन्निगड कोटि निघृष्टजघा) बडी बडी बेडियो के किनारो से जिनकी जघाय अत्यन्त छिल गई हैं ऐसे (मनुजा) मनुष्य (त्वन्नाममत्रम्) तुम्हारे नाम रूपी मन्त्र को (स्मरन्त) स्मरण करने से (सद्य) तत्काल ही (स्वय) आपसे आप (विगत बन्ध भया) बन्धन के भय से सर्वथा रहित (भवन्ति) होते हैं ॥४६॥

श्री शोभारामजी —

पायनि तें कठ लौं लपेटी दृढ लोह जाल,

साकल के बन्धन लगे हैं सब तन म।

गाढ़ो दुद्धर वेडी त नाधो है जुगल जाध,
नाना दु ख सहे परयो सकट के गन म ॥
नाथ भव्यजनजे त्रिकाल तुम नाम मन्त्र,
सुमिरन करें दृढ़तापूर्वक मन मे ।
तिनके यह महाकष्ट दूर होत ततकाल,
टूटे च बन्धन अचरज होय जन मे ॥४६॥

श्री हेमराजजी —

पाय कठ तें जकर नाघ साकल अति भारी,
गाढ़ी वेड़ी पैर माहि निन जाघ विदोरी ।
भूख प्यास चिन्ता शरीर दुख जे विललाने,
शरण नाहिं निन कोय भूप क बन्दी खाने ॥
तुव सुमरत स्वयमेव ही बन्धन सब खुल जाय,
छिन मे ते सम्पत्ति लहैं चिन्ता भय विनसाहि ॥४६॥

श्री नाथूराम प्रेमीजी —

गुरु सकल न सों चरन तें ले कठ लगि जो कसि रहे ।
गाढ़ी बड़ी वेडी न सों जिनके जिघन तट घसि रहे ॥
ते पुरुष प्रभु तुन नाम रूपी मन्त्र को जप के सदा ।
तत्काल बन्धन भय रहित स्वयमेव ही होवहि मुदा ॥४६॥

श्री गिरधरजी —

मारा शरीर जकड़ा दृढ साकलों से,
वेडी पडे छिल गई निनकी सुजाघें ।
त्वन्नाम मन्त्र जपते जपते उन्हों के,
जल्दी स्वय भड़ पडे सब बध वेडी ॥४६॥

श्री कमलकुमारजी—

लोह शृंखला से जकड़ी हैं नख से शिर तक देह समस्त।
घुटने लावे छिले बेड़ियों से अधीर जो हैं अति त्रस्त॥
भगवन एसे बंदीजन भी तेरे नाम मन्त्र की जाप।
जपकर गत बन्धन हो जाते क्षण भर में अपने ही आप॥४६॥

श्री नथमलजी—

पाव कंठ पर जत बेंरी तन साँकल भारी।
गाढ़ी बेड़ा की सुकोर जघ विदारी॥
नाम मन्त्र तुम जपत हिये मे जे नर ज्ञानी।
बन्धन भयते रहित होय ते छिन मे प्रानी॥४६॥

भावार्थ—चारों प्रकार के कारागृहों में सड़सठ प्रकार के बन्धन होते हैं। यह भिन्न भिन्न बन्दीगृहों में कई तो एक में हैं। और कई भिन्न भिन्न प्रकार के हैं। इनका नाम कर्म कहते हैं वादय प्राणियों के संसार गतियों में अनादि से हैं। और जब तक मुक्ति नहीं होगी। तब तक रहेंगे। तैजस, कार्माण अगुरुलघु निर्माण, स्पर्श रस, गंध, वर्ण, स्थिर, अस्थिर, शुभ, अशुभ इस प्रकार इनके नाम हैं। चार गति देव, नारक, मनुष्य, तिर्यंच इन चारों से कोई भी एक गति रहती है। पांच इन्द्रिया—एकेन्द्री बेन्द्री, तेइन्द्री, चोइन्द्री और पंचेन्द्री इन जातियों में से कोई भी एक जाति उदय में रहती है।

त्रस, बादर, पर्याप्त प्रत्येक, सुभग, आदेय और यश कीर्ति इनके विपरीत, स्थावर, सूक्ष्म, अपर्याप्त साधारण, दुर्भग, अनादेय अयशकीति, इन सप्तकों में से कोई सप्तक रहता है।

चार आनुपूर्वियाँ देव, नारक, मनुष्य, तिर्यंच में से मृत्यु समय एक कोई सी योग्यतानुसार एक उदय में आती हैं। औदारिक शरीर, औदारिक अंगोपांग, वैक्रियक शरीर, वैक्रियक अंगोपांग, आहारक शरीर, आहारक आंगोपांग इन तीनद्विक में एक द्विक सदा उदय में रहता है।

जंजीरों के) वन्धन, पौद्गलिक शरीर से आपके स्मरण मात्र मे ही टूट जाय इसमें कौन सा आश्चर्य है।

गुरुदेव कहते हैं कि जिनके पैरों से लेकर छाती और कंठों तक साकल जकड़ी हुई है। लोहे के किनारों मे जिनकी जाँघे छिल गई हैं, शरीर में लोहू लुहान हो गये हैं। ऐसे समय मे जो पुरुष आपका स्मरण करते हैं। उनके वन्धन तत्काल स्वयमेव टूट जाते हैं ॥४६॥

मत्तद्विपेन्द्रमगराजदवानलाहि
सग्रामवारिधिमहोदरवन्धनोत्थम् ।
तस्याशु नाशमुपयाति भय भियेव,
यस्तावक स्तवमिम मतिमानधीते ॥४७॥

अन्वयार्थ —(य) जो (मतिमान) बुद्धिमान (इमं) इस (तवक) तुम्हारे (स्तव) स्तोत्र को (अधीते) अध्ययन करता है, पढता है, (तस्य) उसके (मत्तद्विपेन्द्रमृगराज दवानलाहिसग्रामवारिधिमहोदर बन्धनोत्थम्) मत्त हाथी, सिंह, अग्नि, सर्प, सग्राम, समुद्र, महोदर, रोग और बन्धन इन आठ कारणों से उत्पन्न हुआ (भय) भय (भियाऽव) डरकर ही मानों (आशु) शीघ्र ही (नाश) नाश को (उपयाति) प्राप्त हो जाता है ॥४७॥

श्री शोभाराम जी —

मद मय मत्त गजराज अति गुंजति है,
सिंह बलवन्त परचडमय भासि है।
दावानल ज्वाल विकराल अहिं विषरूप,
भूपति के जुद्ध औ गहन जल राशि है॥
दारुण उदर रोग सकट के बधन है,
एते आठ भय दुखमय दृढ़ पास है।

जिन गुण कथन पढ़ेते ततकाल ही मे,
भव्य जीव आनन्द लहतभय नाशि हैं ॥४७॥

श्री हेमराजजी —

महा मत्त गजराज और मृगराज दवानल,
फनपति रन परचंड नीर निधिरोग महानल।
बन्धन ये भय आठ डरप कर मानोनाशै,
तुम सुमरत छिनमाहि अभय थानक परकाशै॥
इस अपार ससार में शरन नाहि प्रभु कोय,
यातै तुम पद भक्त को भक्ति सहाई होय॥४७॥

श्री नाथूराम प्रेमीजी —

मद मत्त गज मगराज दावानल समुद्र अपार को।
संग्राम साँप तथा जलोदर कठिन कारागार को॥
भय स्वय भय करि भाग जावै, तुरत ताको नेम सों।
यह आपकी गिरदावली बाचैं सुधि जो प्रेम सों॥४७॥

श्री गिरधर जी —

जो बुद्धिमान इस सुस्तव को पढ़ै हैं,
होके निर्भीत उनमे भय भाग जाता।
दावाग्नि, सिंधु, अहि कारण रोग का त्यों,
पचास्य मत्त गज का सब बंधनो का॥४७॥

श्री कमलकुमारजी —

वृषभेश्वर के गुण स्तवन का, करते अहि निशि जो चिंतन।
भय भी भयाकुलित हो उनसे, भग जाता है हे स्वामिन!॥

कुंजर, समर, सिंह, शोक, रुज अहि दावानल कारागार।
इनके अति भीषण दुखों का, हो जाता क्षण में संहार ॥४७॥

श्री नथमलजी —

अहि, मतंग, मृगराज, अग्नि, रण, अति, भयकारी।
उदधि, जलचर, रोग, कठ बंधन अतिभारी॥
ये भय आठों नसैं डरपि कं ता नर सेती।
जपैं तिहारो स्तवन सदा यह जो हिय सेती ॥४७॥

भावार्थ —स्वतंत्र को जो परतन्त्र करे वे बन्धन कहे जाते हैं। जीव द्रव्य के अनादि काल से पुद्गलों के बन्धन पड़े हुये हैं। अरूपी, निराकार आत्मा, रूपी साकार पुद्गल पिंडों में फँसा हुआ है। जीव के चार गुण हैं। इनको आच्छादित करने वाले चार घातिया कर्म हैं। जिनके ४७ उत्तर भेद उदय की अपेक्षा कहे गये हैं। बन्धन ४५ का है। किन्तु सम्यक्त्व होने के पश्चात् मिथ्यात्व के मिश्र और सम्यक् मोहनीय के दो भेद और बढ़ जाते हैं। ४७ का नाश होने पर जीवन्मुक्त अवस्था हो जाती है। किन्तु जब तक घातिया कर्मों का अस्तित्व है, तब तक सिद्ध अवस्था नहीं होती। अघातिया कर्म, बन्ध की अपेक्षा चार है। जिनकी उत्तर प्रकृति वेदनीय की दो आयु की चार, नाम की बन्ध की अपेक्षा ६७ और गोत्र कर्म की २ इस प्रकार ७५ हैं। किन्तु नाम कर्म की सत्ता ९३ की रहती है। पाँच शरीरों के ५ बन्धन, पाँच संघात, ऐसे दस और स्पर्श, रस, गंध, वर्ण के ८+५+२+५ ऐसे चार के २० भेद बन जाते हैं। तो १६ यह ऐसे २६ भेद बढ जाने से नाम कर्म ६७ की बजाय ९३ भेद हो जाते हैं। इस प्रकार बन्ध में १२०, उदय में १२२ और सत्ता में १४८ प्रकृति मानी जाती है।

घातिया कर्म की बन्ध प्रकृति ४५, उदय ४७ और सत्ता भी ४७ की हैं। इनका विनाश होते ही आत्मा अरहंत हो जाती है। घातियाँ कर्मों की साथ स्थावर, सूक्ष्म, साधारण, एकेन्द्री, बेइन्द्री,

तेइन्द्री, चोइन्द्री, आतप, उद्योत, तिर्यंच गति, तिर्यंचगत्यानुपूर्वी, नर्क गति,नर्क गत्यानुपूर्वी ऐसे यह १३ नाम कर्म की प्रकृति चली जाती है। वर्त्तमान में मनुष्यायु है। तीन आयु का बंध नहीं है। ऐसे यह १६ नष्ट हो जाने से कुल ६३ प्रकृति नष्ट हो जाती हैं। शेष वेदनीय २, आयु गोत्र, नामकी ८० ऐसे ८५ प्रकृतियाँ रह जाती हैं। इस प्रकार सत्ता में ८५ प्रकृति होते हुए भी ये एक अघातिया ही कही जाती है। यह जीवन अवस्था के सिवाय मोक्ष स्थान की गति बाधक होने से वह अणु मात्र भी जीव के अनंत गुण व्यक्त होने में बाधक नहीं है।

जीव के अनुजीवी गुण दर्शन, ज्ञान, सुख, वीर्य आदि अनेक हैं। उनमें भाववती शक्ति व्यक्त न होने देने वाली दर्शनावरणी ६। ज्ञानावरणी ५ मोहनीय २८ अन्तराय ५ ऐसे ४७, प्रकृतियाँ हैं। इनका सर्वथा क्षय हो गया है। जैसे अन्य द्रव्यों में अनन्त गुण हैं। वैसे गुण भी जीवम अनन्त हैं।

आपके रूप का अनुभव करले और उस पर दृढ़ श्रद्धान हो जाय उसे सम्यक् दर्शन कहते हैं। सम्यक्त्व होते ही यह जीव अपने को अजर, अमर, अविनाशी मानने लगता है। और उसको अष्ट कर्म, पुद्गल विनाशीक अस्थिर प्रगट अनुभव में आने लगते हैं। जब इनमें ही उसको लेशमात्र भय नहीं है तब हाथी सिंह, अग्नि, सर्प, बलवान शत्रु, समुद्र, रोग, बंधनादि का कैसे भय हो सकता है। वह तो स्वयं सूर्य के समान महान तेज धारण कर निर्भय विचरता है। और यह भयभीत करने वाले, हस्ती आदि का स्वयं भयभीत होकर उसके तेज ताप के आगे छिपते फिरते हैं।

गुरुदेव कहते हैं कि मतवाला हाथी, सिंह, अग्नि, सर्प, युद्ध, समुद्र, रोग, बन्धन यह भय उत्पन्न करने वाले भय आपका स्तवन, चिंतवन करने वाले प्राणियों के आगे स्वयं भयभीत होकर भाग जाते हैं। यह आपके स्तोत्र की महिमा है ॥४७॥

स्तोत्रस्रज तव जिनेन्द्रगुणैर्निबद्धां,
भक्त्या मया रुचिरवर्णविचित्रपुष्पाम् ।
धत्ते जनो य इह कण्ठगतामजस्र,
त मानतुगमवशा समुपैति लक्ष्मी ॥४८॥

अन्वयार्थ —(जिनेन्द्र) हे जिनेन्द्र (इह) इस ससार में (मया) मेरे द्वारा (भक्त्या) भक्ति पूर्वक (गुणे) आपके गुणों करके (निबद्धा) गूँथी हुई (रुचिर वर्ण विचित्र पुष्पाम्) मनोज्ञ आकारादि वर्णों के यमक, श्लेश, अनुप्रासादि रूप विचित्र फूलों वाली और (कठगता) कठ में पडी हुई (तव) तुम्हारी इस (स्तोत्रस्रज) स्तोत्र रूपी माला का (य) जो पुरुष (अजस्र) सदैव (धत्ते) धारण करता है। (त) उस (मानतु ग) मान से ऊँचे अर्थात् आदरणीय पुरुष को (लक्ष्मी) राज्य, स्वर्ग, मोक्ष और सत्काव्य रूप लक्ष्मी (अवशा) विवश होकर (समुपैति) प्राप्त होती है ॥४८॥

श्री शोभारामजी —

हे जिननाथजी पहुप माल,
भगति प्रतीति भावधरि के बनाई है।
प्रेम से सुरचि नाना वरण सुमन धरि,
गुण गण उत्तम अनेक सुखदाई है ॥
जे ही भव्य जन कठ धरि हैं उछाह करि,
पुलकित अ ग व्है के आनन्द सों गाई है।
ते ही मानतुङ्ग करैं मुकतिवधु से हव,
गगन सरित राम शोभा सुख पाई है ॥४८॥

श्री हेमराजजी —

यह गुन माल विशाल नाथ तुम गुनन सँवारी,
विविध वरण मय पहुप गूँथ मे भक्ति विथारी ।
जे नर पहिरे कठ भावना मन में भावे,
मानतुङ्ग ते निजाधीन शिव लक्ष्मी पावे ॥
भाषा भक्तामर कियो, हेमराज हित हेत,
जे नर पढ़ें सुभाव सो, ते पावें शिव खेत ॥४८॥

श्री नाथूराम प्रेमीजी —

हा गूँथी लायो विरद माला नाथ तुव गुन गनन सो ।
बहु भक्ति पूरित रुचिर वरन विचित्र सुन्दर सुमन सों ॥
या तो सदा सौभाग्य जुत जो मनुज कठ सिंगारि है ।
तिस 'मानतुङ्ग' सुपुरुष को, कमला विवश उरधार है ॥४८॥

श्री गिरधरजी —

तेरे मनोज्ञ गुण से स्तव मालिकायें,
गूँथी प्रभो ! रुचिर वर्ण सुपुष्प वाली ।
मैंने सभक्ति जन कठ धरे इसे जो,
सो 'मानतुङ्ग' सम प्राप्त करे सुलक्ष्मी ॥४८॥

श्री कमलकुमारजी —

हे प्रभो ! तेरे गुणोद्यान की, क्यारी से चुन दिव्य ललाम ।
गूँथी विविध वर्ण सुमनों की, गुणमाला सुन्दर अभिराम ॥
श्रद्धासहित भविक जन जो भी, कठाभरण बनाते हैं ।
'मानतुङ्ग' सम निश्चित सुन्दर, मोक्ष लक्ष्मी पाते हैं ॥४८॥

श्री नथमलजी —

इह गुणमाल जिनेश भगति वश हूँ मैं कीनी।
विविध वरण के पहुप गुनहि, तिन करि सु नवीनी॥
जो नर धारै कंठ निरंतर यह गुणमाला।
'मानतुङ्ग' दरहाल वरै सो नर शिव बाला॥४८॥
यह भाषा रचना करी, नथमल निज पर हेत।
पढ़ै सुनैं जे नर सदा, वाहि सदा सुख देत॥

भावार्थ—कर्मों का ८७ प्रकृति क्षय होने पर जीवन्मुक्त अवस्था हो जाती है। वे कृत्यकृत्य हो जाते हैं। उनके कर्त्ता, कर्म, क्रिया का अभाव हो जाता है। उनका पुद्‌गल से केवल स्थिति मात्र का सम्बन्ध है। उन कर्मों के सम्बन्ध से ध्वनि होती उसे इन्द्रादि देव विशाल कर जगत में फैलाते हैं। वह वर्गणा जब तक है तब तक ध्वनि होती है। जब शरीर में नहीं रहती तब अपने आप ध्वनि होना बन्द हो जाता है। और अल्प समय ही में वे सिद्ध हो जाते हैं।

श्री मानतुङ्ग स्वामी से ४७ काव्यों का उद्भव हो गया। मानों ४७ घातिया कर्मों का क्षय हो चुका। उनके पास अब कहने को कुछ न रहा। वे सर्वथा मौन हो गये। श्रोता गण मन्त्र मुग्ध सर्प की भांति अपने राग द्वेष रूपी विष को विसार कर आनन्द में मस्त हो रहे थे। वे गुरु देव के मौन पर तरह तरह के विकल्प कर रहे थे। यह अद्भुत स्तोत्र किसका बनाया हुआ है। कितना बड़ा है इत्यादि विकल्पों का उत्तर गुरु देव के ४८ वें काव्य से मालूम हो जाता है।

संसार में जीव द्रव्य अनन्त हैं। पुद्‌गल वर्गणायें जीव द्रव्य से अनंत गुणी हैं। अक्षर शब्द, पद, वाक्य द्वारा भाषा वर्गणाओं से जो कुछ वस्तु का स्वरूप कहा जा सकता है, वह सब द्वादशांग

में गर्भित है। जितना मेरा शाब्दिक ज्ञान है, उस शब्दों में भी मैंने सर्वोत्तम वर्ण, पदसंग्रहित करके अनंत गुणधारी भगवान् तेरी स्तुति मेरे द्वारा हुई है। जिसका फल प्रत्यक्ष में द्वार का खुलना, बन्धनों का टूटना ही नहीं है। इसका फल तो अनादि काल से कर्म बन्धनों का टूटना है। और पूर्ण आत्म शक्ति का विकास है। जो भव्य जीव इस गुणानुवाद रूपी माला को परम विशुद्ध भावों से हृदय में धारण करेंगे, उन्हें मुक्ति रूपी लक्ष्मी वरेगी। इसमें कोई संदेह नहीं।

गुरुदेव कहते हैं कि रूपी पुद्गल वर्गणाओं से अरूपी परम शुद्ध आत्मा का गुणानुवाद नहीं होता। अवक्तव्य पदार्थ वक्तव्य कैसे हो। यह असम्भव है। तब भी संसारी जीव के पास अपने भाव व्यक्त करने का दूसरा मार्ग नहीं है। इसी अवस्था में मेरे अत्यंत रुचिकारक वर्णों के विचित्र शब्द रूपी पुष्पों की भक्ति रूपी गुण से स्तोत्र रूपी माला बनी है। मेरा दृढ़ निश्चय है कि मेरी तरह भक्ति पूर्वक जो इसको धारण करेंगे, उनकी संसार में तो पूजा, प्रतिष्ठा तो होवे ही गी। परन्तु मुक्ति रूपी स्त्री भी उनके गले में वरमाला अवश्य डालेगी ॥४८॥

शान्ति ! शान्ति !! शान्ति !!!

॥ समाप्त ॥